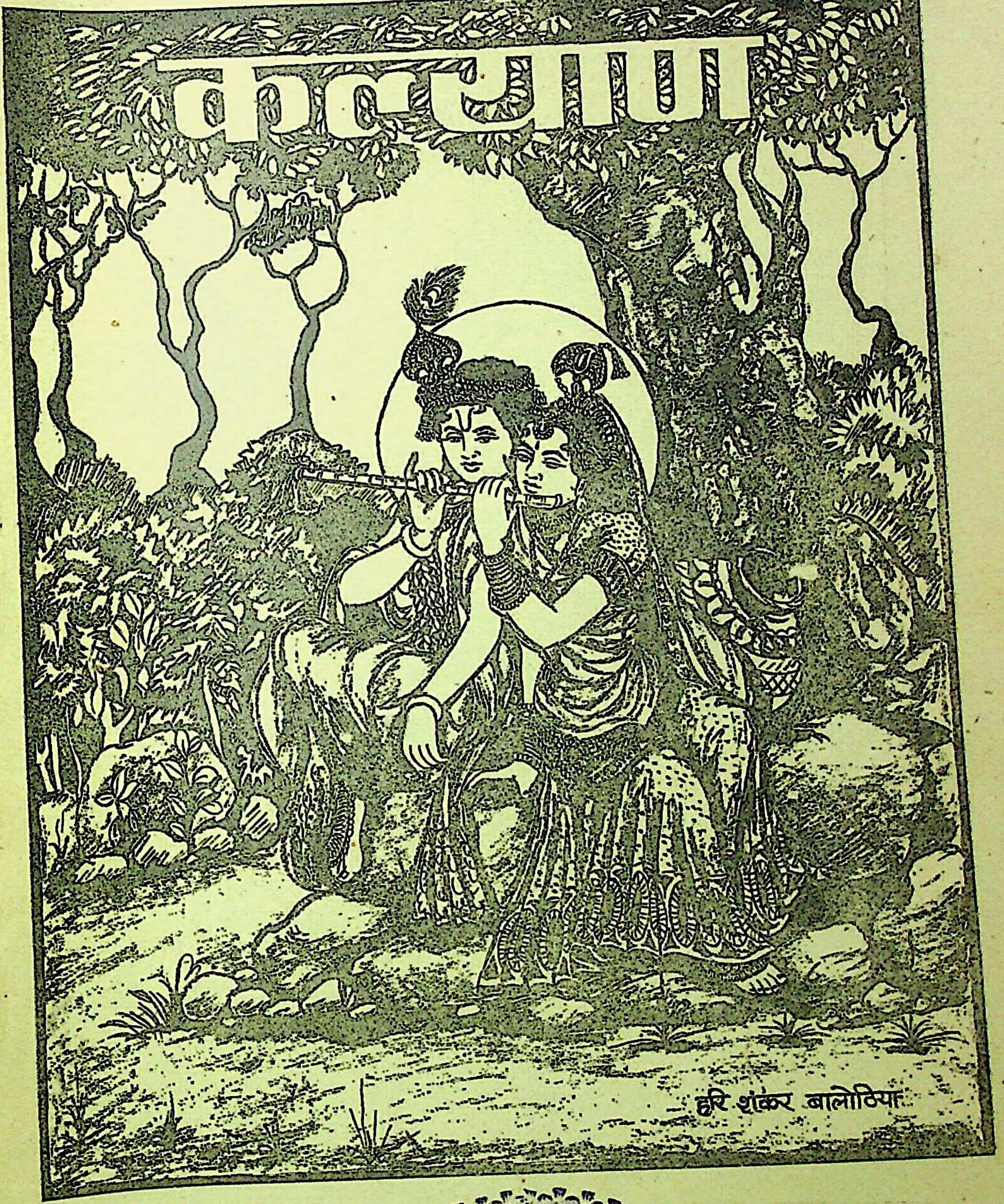


वर्ष ४४] * * [अङ्क ६

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

संस्करण १,६५,०००

विषय-सूची

कल्याण, सौर आषाढ़ २०२७, जून १९७०

चित्र-सूची

वार्षिक मूल्य भारतमें ९.०० } विदेशमें १३.३५ (१५ शिलिंग) } जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥ { साधारण प्रति भारतमें ५० पैसे { विदेशमें ८० पै० (१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री

मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर



मुरलीकी मोहनी

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥



कल्याण

देवाधिदेव भगवन् कामपाल नमोऽस्तु ते । नमोऽनन्ताय शेषाय साक्षाद् रामाय ते नमः ॥
नमः श्रीकृष्णचन्द्राय परिपूर्णतमाय च । असंख्याण्डाधिपतये गोलोकपतये नमः ॥

वर्ष ४४ | गोरखपुर, सौर आषाढ २०२७, जून १९७० | संख्या ६ पूर्ण संख्या ५२३

मुरलीकी मोहनी

बजावत मुरली स्याम सुजान ।
बन संगीत-रूप रसमय प्रिय छेड़त मीठी तान ॥
धन्य भईं सब राग-रागिनी बड़भागिनी महान ।
हरि-मुख बसी, निकस मुरली-छिद्रन तें सुधा-समान ॥
हर्‌यौ सकल बिष जग-बिषयन कौ, कर्‌यो उदय अनुराग ।
प्रियतम स्याम-चरन-पंकज में, भयौ सहज सब त्याग ॥
टूटि गये सब बंधन, जागे परम सखी के भाग ।
मुरली की मोहनी मिटाये भोग-त्याग-विभाग ॥

याद रक्खो—छोटे-से चूल्हेमें एक-आध सेर कोयला या लकड़ीसे काम चल जाता है, उसमें अधिकके लिये स्थान ही नहीं होता। बड़े रसोईघरके चूल्हेमें इतनेसे कोयले या लकड़ीसे काम नहीं चलता। वहाँ दस-बीस सेरकी जरूरत पड़ती है और बड़ी भट्ठी हो, वहाँ तो मनों ईंधन चाहिये एवं वही अग्नि यदि घरमें लग जाय तो सारा घर ही ईंधन बन जाता है या उससे भी बड़े रूपमें जंगलमें लगनेपर तो सैकड़ों-हजारों पेड़ोंसे भी उसकी भूख नहीं मिटती। इसी प्रकार संसारके भोग-विषयोंमें जिसकी हैसियत जितनी छोटी होती है, उतनी ही उसकी आवश्यकताएँ कम होती हैं और उसका अभाव कम होता है। जिसकी जितनी बड़ी हैसियत होती है, उतनी ही उसकी जरूरतें ज्यादा होती हैं और उतना ही उसका अभाव भी अधिक होता है। जिसका अभाव जितना अधिक है, उतनी ही उसको प्रतिकूलता है और प्रतिकूलता ही दुःख है। 'जितनी बड़ी आग, उतनी बड़ी ईंधनकी भूख; और जितनी बड़ी आग उतनी ही अधिक आँच—उतना ही अधिक ताप'—इस सूत्रको याद रक्खो।

याद रक्खो—जिसके पास सांसारिक भोगपदार्थ जितने अधिक हैं, उतनी ही उसकी कामनाएँ अधिक हैं और जितनी ही कामनाएँ अधिक हैं, उतना ही दुःख अधिक है और उतना ही क्रोध, लोभ, सम्मोह, स्मृतिभ्रंश तथा बुद्धिनाशके क्रमसे सर्वनाशकी सम्भावना अधिक है।

याद रक्खो—जिसके जीवनमें जितनी आवश्यकताएँ अधिक होंगी, उतनी ही उनको प्राप्त करनेकी चाह अधिक होगी। जितनी चाह होगी, उतनी ही प्रवृत्ति अधिक होगी। जितनी प्रवृत्ति अधिक होगी, उतनी ही उपाधियाँ, उतनी ही परेशानियाँ, उतनी ही चिन्ताएँ, उतनी ही अशान्ति और उतने ही पापकर्म अधिक होंगे। यों जीवन अशान्तिमय, दुःखमय, चिन्तामय तथा पापमय बन जायगा। यहाँ मरते दमतक विषाद, भय, चिन्ता, अशान्ति रहेगी तथा मृत्युके बाद नरकोंकी एवं आसुरी यन्त्रणादायक योनियोंकी प्राप्ति होगी।

याद रक्खो—संसारमें पेट भरने, पहनने-ओढ़ने, बैठने-सोने आदिके लिये सामग्री अवश्य चाहिये, पर यह अमुक प्रकारकी और इतनी अधिक होनी चाहिये, यह आवश्यक नहीं है। अतएव जो सभी बातोंमें सादगी रखकर, अपनी स्थितिमें संतुष्ट रह, कम-से-कम आवश्यकताका जीवन बिताता है, जिसे भोगोंके अभावकी पीड़ा नहीं सताती और जिसका मन भोगोंकी ओर ललचायी दृष्टिसे नहीं देखता, वह धनकी दृष्टिसे गरीब भी, मानसिक शान्तिके कारण सदा परम शान्ति तथा आनन्दका अनुभव करता है। इसके विपरीत, एक करोड़पति या सम्राट् भी, जिसके पास प्रचुर भोग-सामग्री है, पर जो अभावके चिन्तानलसे जलता रहता है, जिसका मन सदा संतप्त, असंतुष्ट और अशान्त है, वह सदा दुखी ही रहता है।

याद रक्खो—वास्तवमें सुख तो आत्मा या भगवान्‌में ही है। शेष तो सब दुःखमय ही है। कम अभाववाला भी दुखी रहता है और अधिक अभाववाला भी। जो आत्मा या भगवान्‌को नित्य सत्य आनन्द-स्वरूप मानकर उनसे जुड़ा रहता है, वह बाहरसे गरीब हो या धनी, छोटी हैसियतवाला हो या बड़ी हैसियत-वाला—सदा सुखी रहता है। इस दुःखमय असार संसारमें भगवान् तथा उनका नाम ही सार है, उसीमें सबको लगना-लगाना चाहिये। इस दृष्टिसे भगवान्‌में न लगनेवाले गरीब तथा अमीर सभी दुखी हैं। परंतु जिनकी जरूरतें कम होती हैं, उनको सांसारिक चिन्ताओंमें

दिनभर ग्रस्त नहीं रहना पड़ता । अतः वे सत्संग, आत्मचिन्तन, भगवच्चिन्तनका कुछ अवसर पा जाते हैं और उसके फलस्वरूप उनके लिये भगवान् और उनके नामसे जुड़ जाना सहज सम्भव होता है, जो मानव-जीवनका प्रधान कर्तव्य तथा ध्येय है । अतएव जहाँ-तक बने, अपनी आवश्यकताओंको कम-से-कम रक्खो, जिससे विषयकामनाकी अग्निसे दिन-रात मन नहीं जलेगा । कुछ समय भगवच्चिन्तनकी शीतल शान्त सम्पत्तिका सुख भी प्राप्त हो सकेगा । और वही मानव-जीवनकी सफलताका साधन होगा ।

'शिव'

ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृतोपदेश

[पुराने प्रवचनोंसे]

भक्त—महापुरुष परम दयालु हैं

जगत्में बिना कारण दया करनेवाले दो ही हैं—एक भगवान् और दूसरे महापुरुष । जैसे सूर्यका प्रकाश उल्लूको नहीं दिखायी देता, जिसकी आँखोंमें दोष हो उसको भी नहीं दीखता, परंतु सूर्यका प्रकाश सब जगह समभावसे परिपूर्ण रहता है, उसी प्रकार महात्मा और प्रभुकी दया समभावसे सब जगह परिपूर्ण है । वे समदर्शी हैं और साथ ही परहितमें रत रहते हैं । (गीता १२ । ४)

जिसको सब लोग त्याग देते हैं, उसका भी ईश्वर और महापुरुष त्याग नहीं करते । भगवान्का नाम 'पतितपावन' है । 'पवित्रपावन' ही नहीं, 'दीनबन्धु' है और 'अनाथनाथ' भी है । यही बात महापुरुषोंके सम्बन्धमें है । महाप्रभु श्रीगौराङ्गदेवने सर्वप्रथम महापापियोंका उद्धार करनेकी घोषणा की थी, पर भगवान् और उनके भक्त महापुरुषोंकी पद्धतिमें कुछ अन्तर होता है । भगवान् जो नहीं चाहता, उसके साथ जबरदस्ती सम्बन्ध नहीं जोड़ते; वे साधककी प्रबल इच्छा होनेपर ही उसका उद्धार करते हैं । भक्त महापुरुष इसके सर्वथा विपरीत इच्छा न करनेवालेका भी कल्याण कर देते हैं ।

भगवान्के यहाँ दो प्रकारके व्यक्तियोंका निर्वाह नहीं होता—एक हरामी—सर्वथा अकर्मण्य (शक्ति रहते हुए भी प्रयत्न न करनेवाले)का, दूसरे न चाहनेवालेका । पापीके नाते तो भगवान् उनका भी उद्धार कर देते हैं, जिनके हृदयमें इतना भाव भी नहीं है कि भगवान् दयालु हैं, परम प्रेमी हैं और हितैषी हैं । पर भक्त महापुरुषोंके मनका यह भाव कि 'इनका उद्धार कैसे हो'—यही उन लोगोंके उद्धारका कारण हो जाता है । दूसरे शब्दोंमें, भक्त—महापुरुषोंकी दया ही उन लोगोंका उद्धार कर देती है ।

दो प्रकारके साधक होते हैं—एक, जो भगवान्की आज्ञाका पालन करते हैं, पर भगवान्की प्राप्तिकी इच्छा नहीं करते । दूसरे, भगवान्की प्राप्तिकी इच्छा करते हैं, पर आज्ञाका पालन नहीं करते । भगवान् इतने दयालु हैं कि वे दोनोंका ही कल्याण कर देते हैं; किंतु पहले कल्याण उसका होता है, जो आज्ञाका पालन करता है, प्राप्तिकी इच्छा नहीं करता । जो न आज्ञाका पालन करता है और न प्राप्तिकी ही इच्छा करता है, उसका उद्धार तो कोई भक्त ही कर सकता है । यह बात भगवान्ने भक्तोंके लिये ही छोड़ दी है । इसीलिये कहा जाता है—'भगवान् दयालु हैं और भक्त परम दयालु हैं ।' भक्तोंके मनमें कभी-कभी यह चाह उत्पन्न हो जाती है—सबका कल्याण हो जाय—'सर्वे भद्राणि

पश्यन्तु' । पर भगवान् ऐसी चाह कभी नहीं करते ।

भक्त—महापुरुषोंका प्रभाव-वर्णन हमारी सामर्थ्यके बाहर है

महापुरुष जहाँ रहते हैं, वहाँ उनका प्रभाव स्वतः फैलता रहता है । तीर्थोंमें जो तीर्थपना है, वह महापुरुषोंका ही प्रभाव है । महापुरुषों—भक्तोंका महत्त्व और प्रभाव इतना है कि उसका वर्णन करना हमारी सामर्थ्यके बाहर है । उद्धवजीने व्रजमें गुल्मलता होना चाहा—'किमपि गुल्मलतौषधीनाम्'—क्योंकि भक्तिमयी गोपियोंकी चरणधूलि जड लता-पेड़ोंका भी उद्धार कर सकती है । भगवान्के भक्तकी चरणधूलिके संसर्गसे ही उद्धार हो सकता है, फिर उनके स्पर्शकी तो बात ही क्या ? जितनी ऊँची-से-ऊँची मानसिक भावना हम कर सकते हैं, उससे भी बहुत अधिक महत्त्व है उनका । जैसे ईश्वरके स्वरूपके ध्यानसे हमें भगवान्के दर्शन हो जाते हैं, ऐसे ही भक्त—महापुरुषोंके ध्यानसे भी उद्धार होता है । महापुरुषके चित्र, चरित्र, लेख आदि सबसे जगत्का कल्याण होता रहता है । जबतक सूर्य-चन्द्रमा हैं, तबतक सबका कल्याण होता रहेगा । वर्तमानमें भी यदि कोई ऐसे भक्त—महापुरुष हों तो उनके द्वारा चाहे जितने मनुष्योंका कल्याण हो सकता है । भगवान्की दृष्टिमें भक्तसे बढ़कर अन्य कोई नहीं है; क्योंकि भक्तकी दृष्टिमें भगवान्से बढ़कर कोई नहीं है; भगवान्की यह प्रतिज्ञा है—

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।'
(गीता ४ । ११)

असम्भवको सम्भव बनानेवाले भगवान् अपनेको भक्तके अधीन बतलाते हैं—'अहं भक्तपराधीनः' । और यहाँतक कहते हैं—'भक्तोंके पीछे-पीछे घूमता हूँ, उनकी चरणरजसे अपनेको पवित्र करनेके लिये ।'

'अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः ।
(भागवत ११ । १४ । १६)

वास्तवमें भक्तका भगवान्के प्रति यह भाव होता है, उसीको भगवान् प्रतिबिम्बित करते हैं ।

वास्तवमें महापुरुषोंके लिये महापुरुष ही प्रमाण हैं । उदाहरण-दृष्टान्त तो केवल थोड़ा-सा समझानेके लिये दिये जाते हैं ।

भगवान्का नाम उच्चारण करनेसे कल्याण हो, इसमें तो कहना ही क्या है, महापुरुषोंके नाम-उच्चारणसे भी कल्याण हो जाता है । उनके नामका उच्चारण करनेसे ही उनके भाव, गुण, चरित्र हृदयमें आते हैं । भूतकालमें जितने महापुरुष हुए हैं, उनका नाम-स्मरण करते ही, उनके गुण आदिकी स्मृति होती है और कल्याण हो जाता है ।

भक्त—महापुरुषोंकी पहचान

गीता अध्याय १२ श्लोक १३ से २० में भगवान्ने भक्तोंके—महापुरुषोंके लक्षण बताये हैं । इनमेंसे बहुत-से लक्षण स्वसंवेद्य हैं । दूसरा मनुष्य महापुरुषको पहचान सके, ऐसे लक्षण शास्त्रोंमें बहुत कम लिखे हैं । फिर भी महापुरुषमें कुछ गुण स्वाभाविक होते हैं—

उनकी सबपर दया रहती है, वे सबके हितमें रत रहते हैं । ज्ञानमार्ग एवं भक्तिमार्ग—दोनों पद्धतियोंसे चलनेवाले महापुरुषोंमें यह बात रहती है । ज्ञानमार्गमें 'सर्वभूतहिते रताः' तथा भक्तिमार्गमें 'मैत्रः करुण एव च' का उल्लेख है । उनके व्यवहारमें, हृदयमें समता होती है । पर जैसे सूर्यका प्रकाश सब जगह समान होनेपर भी दर्पणमें ही उसका प्रतिबिम्ब पड़ता है, काठमें नहीं, इसी प्रकार महापुरुषोंके व्यवहारमें अधिकारी-भेदसे भेद दीख सकता है ।

महापुरुष अपनी सफाई नहीं देना चाहते । दूसरोंकी दृष्टिमें जो दोष है, वे अपनेमें उसका होना स्वीकार कर लेते हैं; पर वास्तवमें महापुरुषोंमें कोई दोष होता नहीं । दूसरा कोई उनका अपराध

समझता है तो वे उसे स्वीकार कर लेते हैं। यह उनकी साधुता है। महापुरुषोंके दर्शन, स्पर्श एवं सङ्गका विशेष प्रभाव पड़ता है। महापुरुष चिन्मय-ज्योति हैं। उनके दर्शनसे ज्ञानकी वृद्धि होती है। उनके सङ्गसे हमारे हृदयके छोटे-छोटे दोष भी हमें दिखायी देने लगते हैं और हमारे आचरणमें सुधार होता है। हममें गुण आते हैं तथा दोष-दुराचारोंका नाश होकर हृदय निर्मल हो जाता है। भक्त-महापुरुषोंके दर्शनसे स्वाभाविक ही ईश्वरस्मृति होती है। जिनके दर्शनसे हमको ईश्वरकी स्मृति हो, वही हमारे लिये 'ईश्वर-भक्त' है। जिसकी महापुरुषोंपर विशेष श्रद्धा होती है, उसकी तो भगवत्स्मृति छूटती ही नहीं। जिसमें महापुरुषके प्रति विशेष श्रद्धा-विश्वास होते हैं, उसको ऐसा अनुभव होता है, मानो ईश्वरकी भक्ति और सद्गुण उन महापुरुषके द्वारा मुझमें प्रवेश कर रहे हैं; आगसे जैसे घास भस्म होती है, वैसे ही मेरे दुर्गुण-दुराचार भस्म हो रहे हैं और मुझमें समता, दया, शान्ति, प्रेम, आनन्द, ईश्वरस्मृति, ज्ञान आदि तीव्रतासे बढ़ रहे हैं।

भक्तों—महापुरुषोंसे लोकहित

भगवान्‌ने गीतामें महात्मा पुरुषोंसे 'लोकहित' की बात कही है—

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥
(३।१८)

'उन्हें न किसी चीजके ग्रहणसे प्रयोजन है, न त्यागसे। सारे भूत-प्राणियोंमें उनका अपना कुछ भी स्वार्थ नहीं रह जाता, जिसके लिये वे अपना ध्येय सिद्ध करते हों। फिर भी उनके द्वारा केवल लोकहितार्थ कार्य किये जाते हैं।' जैसे भगवान् पूर्णकाम हैं, वैसे ही वे महात्मा पूर्णकाम हैं। उनमें इच्छा होती ही नहीं, पर व्यवहारमें समझाया जाता है कि 'उनकी यह इच्छा है।' उनकी जो चेष्टा होती है, वह संसारके हितके लिये और शरीरके प्रारब्धके भोगके लिये। जैसे मल-मूत्रके त्यागकी इच्छा होती है, वैसे ही उनकी अन्य स्फुरणाएँ होती हैं। पर वे होती हैं लोक-हितके लिये—लोगोंको बुरे मार्गसे हटाकर उत्तम मार्गमें लगानेके लिये ही।

भगवान् कहते हैं—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥
(३।२२)

'मुझे किसी वस्तुकी प्राप्ति नहीं करनी है।' यही बात महात्माओंके विषयमें समझनी चाहिये। उन्हें संसारमें कुछ भी स्वार्थ सिद्ध नहीं करना है। समुद्रको जैसे जलकी आवश्यकता नहीं, इसी प्रकार उन्हें भी किसीकी आवश्यकता नहीं। संसारके भोग उनमें आकर प्रवेश करते हैं, तो भी वे समुद्रके समान विचलित नहीं होते। समुद्र तो कभी अपनी मर्यादाका उल्लङ्घन भी कर सकता है, पर महात्मा पुरुष कभी विचलित नहीं होते। वे समुद्रसे भी बढ़कर गम्भीर हैं। ऐसे सर्वोच्च कोटिके महापुरुषोंकी सारी क्रियाएँ भगवान्‌की तरह आदर्श होती हैं।

महात्माओंका सहज भाव रहता है कि संसारका उद्धार हो और उनकी जो क्रिया होती है, उसमें भी यही भाव भरा रहता है। उनकी यदि कोई क्रिया नहीं होती है, तो उसमें भी यही भाव रहता है। उनमें क्रियाका होना और न होना, दोनोंका उद्देश्य है—संसारका कल्याण। संसारके कल्याणकी बात भी कहनेके लिये ही है। वास्तवमें तो उनकी दृष्टिमें संसार है ही नहीं और जब संसार ही नहीं है, तो कल्याण किसका हो? इतना होते हुए भी महात्माओंकी प्रत्येक क्रियासे संसारका कल्याण होता है। जैसे भगवान् रामके द्वारा जो कुछ क्रिया होती है, वह

संसारके हितके लिये ही होती है। यदि हम कहें कि वास्तवमें उनमें क्रिया नहीं होती तो दोष आता है और यदि हम कहें कि 'ये सब क्रियाएँ उनमें हैं' तो ईश्वरकी निर्लेपतामें दोष आता है। इसी प्रकारकी बात महात्मा पुरुषोंके लिये है। यदि हम कहें कि वे लोक-संग्रहके लिये करते हैं तो 'लोकसंग्रह' का भी वास्तवमें क्या स्वरूप है—इसको महात्मा पुरुष ही जानते-समझते हैं, दूसरा समझ ही नहीं सकता।

भक्तों—महापुरुषोंके प्रति श्रद्धाका रूप

महात्माओंके निकट आनेवालोंकी जैसी श्रद्धा होती है, उसीके अनुसार महात्माओंके मुखसे वाणी निकलती है। समूहमें वे जो बात कहते हैं, उसका भी अपनी-अपनी श्रद्धाके अनुसार ही प्रभाव पड़ता है।

महापुरुषोंसे लोग नाना भाँतिके प्रश्नोत्तर करते हैं। वह प्रश्नोत्तर करना ठीक भी है और नहीं भी। श्रद्धासे जिज्ञासु होकर तत्त्व जाननेके लिये, अपने आत्माके कल्याणके लिये प्रश्न किया जाय तो ठीक है, परंतु विद्वत्ता दिखानेके लिये, महापुरुषको पाण्डित्यमें परास्त करनेके लिये या दम्भसे अपनेको महात्मा सिद्ध करनेके लिये प्रश्न करना ठीक नहीं है।

महापुरुष जो कुछ भी कहें, उसमें यही भाव रखना चाहिये कि यह 'दामी' (महान् मूल्यवान् महत्त्वपूर्ण) बात है। अपनेको कोई बात 'बेदामी' (साधारण) माल्म दे तो उसको भी 'दामी' समझे। जहाँ वास्तविक श्रद्धा-प्रेम है, वहाँ तो दामी-बेदामीका प्रश्न ही नहीं उठता। श्रद्धास्पद या प्रेमास्पदकी छोटी-बड़ी प्रत्येक क्रिया उसको अपार प्रसन्नता, आनन्द तथा सुख-शान्ति देनेवाली होती है। गोपियोंकी दृष्टिमें भगवान्की सारी क्रियाएँ महत्त्वकी थीं—जैसे गाय चराना, वृक्षपर चढ़ना, वंशी बजाना, माखन चुराना, जबरदस्ती उठाकर खा जाना आदि-आदि। गौतम ऋषिने सत्यकामको गाय चरानेका आदेश दिया। वह चार सौ गायें लेकर वनमें उन्हें चराने ले गया। गुरुकी यह आज्ञा सत्यकामकी दृष्टिमें गुरुकी कृपा थी, वह समझता था कि मेरे उद्देश्यकी पूर्ति इसीमें है। हम क्या जानें कि भगवान् कैसे मिलेंगे।

शुकदेवजी जनकके द्वारपर जाते हैं। आज्ञा होती है—'खड़े रहने दो'। शुकदेवजी शान्तचित्त खड़े रह जाते हैं। सात दिनतक खड़े रहे, मनमें कोई विकार नहीं हुआ, उल्टे शान्ति और आनन्द रहा। उनके मनमें निश्चय था कि यही आज्ञा ज्ञान देनेवाली है। इसी प्रकार श्रद्धालु पुरुषको श्रद्धेयकी सभी क्रियाएँ ऊँचे दर्जेकी माल्म होती हैं। प्रेमीको भी प्रेमास्पदकी सारी क्रियाएँ ऐसी ही प्रतीत होती हैं। ऊँचा-नीचा दर्जा तो प्रेम-श्रद्धाकी कमीका द्योतक है। श्रद्धालु प्रेमीकी दृष्टिमें श्रद्धास्पद प्रेमास्पदकी कोई भी बात बेदामी कभी होती ही नहीं, न उसकी दृष्टिमें किसी बातका कोई दर्जा ही है। वह तो दर्जा निश्चय करनेवाले आनन्द पुरुषसे डरता है। उसके मनमें उत्तरोत्तर और शान्ति समाती ही नहीं; उसे महापुरुषकी प्रत्येक क्रियामें न्याय और प्रेम तथा संसारके उद्धारकी चेष्टा दीखती है।

संत-स्वभाव

जिनके परस, दरस, सुमिरन तें महापाप सब मिटैं तुरंत।
सहज उदार-सुभाव कर रहे जग-कल्यान नित्य वे संत॥
फैल रही जिन तें सब जग में निर्मल भगवत्-ज्योति अपार।
सकल ताप-तम हर, करती सो उज्ज्वल भगति-ज्ञान-विस्तार॥

आस्तिकताकी आधारशिलाएँ

भगवान्‌से एक बार जुड़ना ही जीवनका सारा इतिहास बदल जानेका शुभ शकुन है

बहुत पढ़े-लिखे होनेके कारण कोई विश्वास चाहे न करें, परंतु सत्य तो सत्य ही रहेगा। भगवान् हैं और रहेंगे। उनका अनन्त अपरिसीम आनन्दमय चिद्-विलास अनादिकालसे चलता रहा है, अनन्तकालतक चलता रहेगा। उस चिद्विलासमें ही विश्वका प्रत्येक प्राणी जान या अनजानमें सम्मिलित है। समुद्रकी लहरकी तरह बन-बनकर वह उठता है और उसीमें विलीन हो जाता है अर्थात् भगवान्‌के परम आनन्दमय अङ्कमें ही वह विराजित था, है और रहेगा। उस अङ्कमें ही उसकी सम्पूर्ण चेष्टा हो रही है। कल्पना करो, गर्भमें जब कोई बच्चा रहता है, तो पाँचवें-छठे महीनेके बाद उसके गर्भमें चलनेकी अनुभूति माँको होने लगती है। उसका हिलना-डुलना चाहे कैसा भी हो, माँमें आनन्दका संचार करता है। माँ उस गर्भस्थ संतानके सम्बन्धमें यह विचार नहीं करती कि यह तो मेरा तिरस्कार करता है। वैसे ही प्रत्येक भूत-प्राणी निरन्तर भगवान्‌के गर्भमें ही निवास कर रहा है। भगवान्‌के संकल्पमें ही उसकी सम्पूर्ण चेष्टाएँ हो रही हैं और उस प्राणीके अनजानमें ही भगवान्‌के चिद्विलासका प्रवाह बड़े व्यवस्थित ढंगसे निरन्तर चल रहा है और अनन्तकालतक चलता रहेगा; किंतु जो प्राणी इसको जान लेता है, उसे एक अनिर्वचनीय अचिन्त्य आनन्दका अनुभव होता है। वास्तवमें यह जानना और न जानना भी भगवान्‌के सच्चिदानन्दमय विलासका ही एक अङ्ग है। सरल भाषामें इसे यों समझना चाहिये—जिस क्षण किसी भी प्राणीने एक बार भी किसी भी निमित्तसे झूठ-मूठ ही भगवान्‌से सम्बन्ध जोड़ लिया, उस क्षण ही सचमुच अनादि अनन्तकालीन जीवन-भूमिकाकी एक नयी रूपरेखा निर्मित हो गयी। अर्थात् अब आगे चलकर वह अवश्य-अवश्य उस प्राणीकी भाँति भगवान्‌के चिद्विलासके रहस्यको जान जायेगा, जो भगवान्‌के अङ्कमें नित्य विराजित रहकर, भगवान्‌के विलासका नित्य-निरन्तर अनुभव करता हुआ परमानन्दमें निमग्न रहता है। भगवान्‌से एक बार जुड़ना ही जीवनका सारा इतिहास बदल जानेका मानो सचमुच सत्य, परम मङ्गलमय शुभ शकुन है।

हर्षको हम आनन्दमें परिणत कर लें

अनुकूलतामें हमें हर्ष होता ही है, पर यह हर्ष एक विकार है; आनन्दसे सर्वथा भिन्न वस्तु है यह। हर्षको हम आनन्दमें परिणत कर लें, यही करना है। आनन्द तो प्रभुका स्वरूप है, प्रतिबिम्ब है, जो मन-बुद्धिरूपी दर्पणपर प्रतिबिम्बित होता है और तबतक स्थायी-रूपसे बना ही रहता है, जबतक मन-बुद्धिका भी आत्यन्तिक विलय प्रभुमें नहीं हो जाता। किसी भी हर्षको हम आनन्दका रूप दे दें अर्थात् ऐसी भावना दृढ़ कर लें कि वह हर्ष हमें कभी छोड़े ही नहीं। फिर यह विकार वरदान बन जायगा और यही करना है।

वस्तुके परिवर्द्धनकी भावनाको भूलकर हम भगवान्‌की रट लगाना शुरू कर दें

किसी अनुकूल वस्तुकी सत्ताका अनुभव होकर उसमें परिवर्धन होनेकी इच्छाका नाम 'लोभ' है। यह भी एक बड़ा दोष है। हम विचार करें—क्या वह वस्तु सचमुच बिना कहे भगवान्‌की कृपासे बढ़ नहीं जाती, यदि वह हमारे लिये आवश्यक होती? क्या भगवान्‌को यह ज्ञान नहीं है कि इतनेमें इसका काम

नहीं चलेगा, इसे बढ़ा देना चाहिये । बच्चा जब बहुत छोटा होता है, तब उसे कितना दूध पिलाना चाहिये, कितने कपड़े चाहिये, इसका ध्यान बच्चा रखता है या उसकी माँ रखती है ? बच्चा तो भूख लगनेपर रोता ही है । रोनेके अतिरिक्त उसके पास और कोई साधन नहीं है । तो वस्तुतः हैं तो हम भगवान्‌की दृष्टिमें बच्चेके समान ही; किंतु भ्रमवश समझ रहे हैं अपनेको चतुर और निर्णय करने लग जाते हैं कि 'इस चीजकी तो त्रुटि है, यह तो पूरी होनी ही चाहिये' । ये सब विचार उपासनामें बाधक हैं । यदि हमारी परिवर्धनकी इच्छा हो, किसी वस्तुके परिवर्धनकी भावना हमारे मनमें उदय हो तो हम भगवान्‌को पुकारने लग जायँ और सचमुच भगवान्‌पर ही इसका भार छोड़ दें । हम परिवर्धनकी भावनाको भूलकर भगवान्‌की रट लगानी शुरू कर दें । हम देखेंगे कि दो बातोंमेंसे एक बात होकर रहेगी—

(क) या तो हमें विस्मृति हो जायगी उस परिवर्धनकी ।

अथवा

(ख) रोनेपर माँ जैसे दूध पिला देती है, वैसे ही हमारी परिवर्धनकी वह चाह पूरी हो जायगी और साथ ही एक विश्वासका भाव इतना तीव्र हो उठेगा कि क्रमशः आगे परिवर्धनकी चाहमें काफी शिथिलता आ जायगी और हम ऊपर उठ जायँगे ।

जो परिस्थिति आवे, उसका हम स्वागत करें

हम यह अनुभव करनेकी चेष्टा करें, सारी शक्ति लगाकर विश्वास करें कि जो भी परिस्थिति भगवान्‌की ओरसे हमारे सामने रक्खी जा रही है, उसके कण-कणमें लौकिक-पारलौकिक हमारा मङ्गल-ही-मङ्गल भरा है । हमारे लिये जो अत्यन्त आवश्यक परिस्थिति है, भगवान्‌के द्वारा उसीका निर्माण किया गया है । भगवान् अपरिसीम करुणामय हैं । उन्हें बिल्कुल ठीक पूरा पता है कि हमारे लिये कौन-कौन-सी परिस्थिति होनी चाहिये और यह सब सोच-समझकर ही सारी परिस्थितियों-का निर्माण भगवान्‌ने किया है । अबोध बच्चेको क्या चाहिये । इसका निर्णय ठीक-ठीक उसकी जननी ही करती है और तदनुरूप व्यवस्था भी करती है । इसलिये जो परिस्थिति आवे, उसका हम स्वागत करें । यही प्रत्येक परिस्थितिमें भगवान्‌के मङ्गलमय विधानको देखना है ।

भगवान्‌के सौहार्दपर विश्वास बढ़ाएँ

किसी वस्तुके अभावका अनुभव होनेपर ही कामना उत्पन्न होती है । लोभमें और काममें इतना ही अन्तर है कि लोभ उस वस्तुकी सत्ताका अनुभव कराता है और परिवर्धनकी माँग करता है और कामना वस्तुके अभावकी अनुभूति कराती है और उसकी पूर्तिकी अपेक्षा रखती है । यहाँ भी भगवान्‌के अनन्त सौहार्द-पर यदि हमारा सचमुच विश्वास हो जाय, तो हमारे मनमें आयेगा कि क्या भगवान्‌के पास किसी वस्तुका अभाव है, जो भगवान् हमें नहीं दे रहे हैं ? असलमें तो जो वस्तु हमारे पास नहीं है, उसकी सचमुच—सचमुच हमें आवश्यकता ही नहीं है । इसीलिये भगवान्‌ने हमें वह नहीं दी है । यहाँकी माँ भी—लौकिक ममतासे पूरित माँ भी अपने शिशुके लिये आवश्यक वस्तुकी व्यवस्था बिना ही माँगे करती है । अनन्त माताओंके हृदयका सम्पूर्ण स्नेह एकत्र कर लेनेपर भी भगवान्‌के स्नेह-सागरकी एक बूँदके बराबर भी नहीं होता । वे परम पिता परमात्मा क्या हमें आवश्यक वस्तु नहीं देते ? सारांश यह है कि भगवान्‌के सौहार्दपर विश्वास बढ़ावें तो स्पृहा-वासना, क्षीण-क्षीणतर होते-होते सब-की-सब सर्वथा विलुप्त हो जायँगी ।

प्रत्येक विपत्तिमें प्रभुके परम मङ्गलमय कर-कमलोंका दर्शन, स्पर्श प्राप्त करें

होठोंपर स्मित और स्वरमें प्रभुके नामकी पुकार लिये हुए ही हमारी जीवनलीला समाप्त हो और जबतक व्यवहार-जगत्‌में रहें, तबतक सम्पूर्ण साहसके साथ प्रसन्न-चित्तसे प्रत्येक विपत्तिमें प्रभुके परम मङ्गलमय कर-कमलोंका दर्शन, स्पर्श प्राप्त करते हुए हँसते-हँसते उसको सिर चढ़ाते चले जायँ। अनजानमें भी प्रभुके प्रति विश्वासका ऊँचा-से-ऊँचा परमाणु भरते चले जाना भी कम नहीं है, पर जीवनके आदर्शके लिये क्षेत्र इतना विस्तृत है कि जिसकी सीमा आजतक किसी भी महात्माने नापी ही नहीं।

धर्मके लक्षण

(लेखक—अनन्तश्री स्वामीजी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती महाराज)

किसी भी वस्तुकी सिद्धिके लिये लक्षण और प्रमाण—दोनोंकी आवश्यकता होती है। प्रमाण प्रमातामें रहकर वस्तुकी पहचान कराता है और लक्षण लक्ष्य-वस्तुमें रहकर औरोंसे उसको अलग दिखाता है। जैसे आँखरूप प्रमाण मनुष्यके पास रहता है और गायका लक्षण 'गलेमें ललरी होना' उसके शरीरमें होता है। महावाक्यजन्य-वृत्ति मनुष्यके अन्तःकरणमें होती है और सत्य-ज्ञानादि ब्रह्ममें रहते हैं। किसी भी वस्तुमें लक्षण वह होता है जो उसके सिवा दूसरी वस्तुमें न हो। प्रमाण भी वही होता है जो अन्य प्रमाणसे अनधिगत और अबाधित अर्थका ज्ञान कराये। धर्म एक अतीन्द्रिय पदार्थ है; इसलिये पहले हम इसके लक्षणपर ही विचार करते हैं।

१. नास्तिक दर्शनोंमें सर्वप्रथम चार्वाक दर्शनकी ही गणना होती है। उसके मतमें देहातिरिक्त आत्माका अस्तित्व नहीं है। प्रत्यक्षके अतिरिक्त कोई प्रमाण भी नहीं है। अतः उसके लिये स्वाभाविक है कि लौकिक जीवन-में अर्थ-संग्रह, भोग-वैशिष्ट्य, आधिपत्य, यश, उत्कर्ष आदि प्राप्त करना ही कर्मका लक्ष्य हो सकता है। इसलिये पुनर्जन्मवादी और परलोकवादी जिस अर्थमें 'धर्म' शब्दका प्रयोग करते हैं, वह उसके लिये नहीं हो सकता। वह यदि परिच्छिन्न स्वार्थसे ऊपर उठकर कोई कर्म करता भी है तो भी उसका उद्देश्य लौकिक ही होता है। उस लौकिक कर्मका उद्देश्य भी देहतक ही सीमित होता है। उसकी दृष्टिमें 'धर्म' लौकिक जीविकाका साधनमात्र है। उससे मनुष्यके मनमें अन्धविश्वास, भय, परावलम्बन तथा झूठी आशाका जन्म होता है। इसलिये यदि हम बलात् उसके सिरपर धर्मका आरोप करें तो यह कहना पड़ेगा कि **व्यक्तित्वका जिस कर्मसे लौकिक उत्कर्ष सिद्ध हो, वही 'धर्म' है।**

जैन-सम्प्रदायमें देहातिरिक्त आत्माको स्वीकार करते हैं। पुनर्जन्म और परलोक भी मानते हैं। प्रत्यक्षके अतिरिक्त अनुमान और अपने आगमोंको भी स्वीकार करते हैं। इन्होंने धर्मका एक सूक्ष्म पदार्थके रूपमें अध्ययन किया है। ये कहते हैं कि धर्मके परमाणु होते हैं। पुण्य-विशेषके अनुष्ठानसे उनका निर्माण होता है। जैन-सम्प्रदायमें उन्हें 'पुद्गल' कहते हैं। उनके द्वारा धर्मात्माके शरीरकी रचना होती है और वह सुख, संयमप्रधान होता है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि **पुण्यविशेषसे निर्मित देहारम्भक, पुद्गल नामक परमाणुओंको ही 'धर्म' कहते हैं।** पुण्य ही धर्म नहीं है, उससे उत्पन्न परमाणु धर्म है। इससे यह प्रेरणा मिलती है कि हमें पुण्य-कर्म करना चाहिये।

बौद्ध-सम्प्रदायमें 'धर्म' शब्द बहुत ही व्यापक अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। उनके मतमें आत्मा, विज्ञान—सब क्षणिक हैं और अन्ततः सबका उच्छेद—शून्यता ही 'निर्वाण' है। पाँचों स्कन्धोंको ही वे 'धर्म' कहते हैं। प्रचलित भाषामें कहना हो तो व्यवहारमें अहिंसा और निर्वाण-प्राप्तिके उपायमात्रको 'धर्म' कहते हैं। उत्तर ज्ञानमें जो पूर्व ज्ञानकी वासना आती है उसको 'धर्म' कहते हैं। ज्ञान क्षणिक हैं। वे जब नष्ट होते हैं, तब अपनी एक वासना छोड़ जाते हैं। वह भी ज्ञानके साथ बदलती ही रहती है। हमारे इस विज्ञान-संतान-परम्परात्मक जीवनमें जो आर्य-सत्यके—ज्ञानके अनुसार अर्थात् बुद्धके अनुभवके अनुसार वासनाएँ उत्पन्न होती हैं, वही 'धर्म' हैं। दुःख, क्षणिकता, स्वलक्षण और शून्य—ये

चारों आर्य-सत्य हैं। जब इनके अनुभवके अनुकूल ज्ञान-धारा प्रवाहित होने लगती है, तब उसको 'धर्म' कहते हैं।

२. न्यायदर्शनके प्रणेता गौतमके मतमें **'धर्म' आत्माका एक विशेष गुण है। वह विहित कर्मसे अथवा शुभ प्रवृत्तिसे उत्पन्न होता है।** उसे 'अदृष्ट' भी कहते हैं। मनुष्यके जीवनमें दोष-मूलक प्रवृत्तियाँ होती रहती हैं। कहीं राग नचाता है तो कहीं क्रोध उद्दण्ड बना देता है, तो कहीं मोह बाँध देता है। इनके कारण मनुष्य संसारकी वस्तुओंमें फँस जाता है और अंधा, क्रूर तथा पक्षपाती हो जाता है। यही अधर्मका मूल है। जब मनुष्य इनसे बचकर ऐसे कर्म करने लगता है, जिनसे वह कायिक, वाचिक एवं मानसिक—दस प्रकारके पापोंसे बचकर दस प्रकारके धर्मके अनुष्ठानमें लग जाय तो वह नीचे न जाकर ऊर्ध्व गतिको प्राप्त हो और अविद्यासे मुक्त होकर जन्म और दुःखसे भी सर्वदाके लिये छूट जाय। वे दस पाप ये हैं, जिनसे मनुष्य धर्म-विमुख हो जाता है—

(१) मुझे दूसरेका धन कैसे मिल जायगा—ऐसा चिन्तन।

(२) मनसे निषिद्ध कर्म करनेकी आकाङ्क्षा।

(३) नरक-स्वर्ग, पुनर्जन्म, जीव-ईश्वरको कौन जानता है! यह देह ही सब कुछ है—ऐसा मान बैठना।

(४) कठोर बोलना।

(५) मिथ्या भाषण करना।

(६) दूसरेकी निन्दा करना।

(७) निष्प्रयोजन वार्ता करना।

(८) बिना दिये किसीकी वस्तु ले लेना।

(९) तन, मन और कर्मसे किसीको दुःख पहुँचाना।

(१०) परस्त्री और परपुरुषके साथ सम्बन्ध होना।

इन दसोंका परित्याग कर देनेपर वृत्ति अन्तर्मुख हो जाती है। वृत्तिका आत्म-सामीप्य ही 'धर्म'की उत्कृष्ट अवस्था है।

३. वैशेषिक दर्शनके प्रणेता महर्षि कणादका मत है कि **जिस कर्मसे मनुष्य इस लोकमें अभ्युदय और अन्तमें निःश्रेयस प्राप्त कर लेता है, उसका नाम 'धर्म' है।** महर्षिने ऐहलौकिक उन्नतिको धर्मके साथ जोड़कर लोकका बहुत बड़ा कल्याण किया है। वस्तुतः धर्म केवल अगला जन्म सुधारनेके लिये, स्वर्गमें पहुँचानेके लिये, ईश्वरकी प्राप्तिके लिये अथवा अन्तःकरण-शुद्धिद्वारा ब्रह्मानुभूतिके लिये ही उपयोगी हो—ऐसी बात नहीं है। धर्मात्मा पुरुषपर प्रजाका विश्वास बढ़ता है। इसलिये लोग उसपर विश्वास करते हैं और उसका आश्रय लेते हैं। 'लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति।' व्यापारी जब लोगोंका विश्वासपात्र होता है, तब उसका व्यापार चलता है। जब लोग जान जाते हैं कि यह झूठा, ठग, बेईमान है, तब उससे व्यवहार करनेमें डरते हैं। इसका अर्थ हुआ कि धर्मात्माको अर्थकी प्राप्ति होती है। धर्मात्मा पुरुष संयमके द्वारा काम-भोगको नियममें रखकर स्वयं अपने शरीर और मनको स्वस्थ रखता है। दीर्घकालतक भोग भोगता है और दूसरोंको हानि नहीं पहुँचाता। पदार्थोंके धर्मकी परीक्षामें प्रवृत्त होकर कणादने मनुष्यके धर्मकी भी उत्कृष्ट रूप-रेखा बता दी है। जैसे धर्मके बिना पदार्थका पदार्थत्व ही नष्ट हो जाता है; इसी प्रकार धर्मके बिना मनुष्यका मनुष्यत्व ही नष्ट हो जाता है। धर्मसे सब कुछ सिद्ध हो सकता है।

४. सांख्यप्रणेता कपिलने **सत्कर्मजन्य अन्तःकरणकी एक विशेष वृत्तिको 'धर्म' माना है।** बात यह है कि यह वस्तुतः असङ्ग आत्मा अविवेकके कारण प्रकृति-प्राकृत पदार्थोंमें 'अहं', 'मम' (मैं, मेरा) करके बद्ध हो गया है। विवेक-ख्यातिके बिना यह त्रिगुणमयी प्रकृतिके बन्धनसे मुक्त नहीं हो सकता। विवेकका उदय होता है—सत्त्वगुणकी स्थितिमें। जिस शारीरिक, मानसिक अथवा बौद्धिक कर्मके द्वारा अन्तःकरणमें वैराग्य, शान्ति आदिका उदय हो और विवेकका प्रकाश हो, उसीको 'धर्म' कहते हैं। थोड़े शब्दोंमें यह कह सकते हैं कि प्रकृतिके विकार-विलाससे अनासक्त करके पुरुषको अपने स्वरूप-बोधके अनुकूल अन्तःकरणको निर्मित करनेवाला कर्म ही 'धर्म' है।

५. योगाचार्य पतञ्जलिके मतमें, **वृत्तिको क्लेशानुवेधसे बचाकर समाधिके उपयुक्त बनाने और पुरुषको निरोधोन्मुख करके स्वरूपावस्थित करनेमें सहायक जो कर्म हैं—उसे 'धर्म' कहते हैं।**

योगदर्शनके मतमें मन ही बन्धन और मोक्षका कारण है। सब वृत्तियोंका यही आधार है। सब कर्मोंके संस्कार भी अन्तःकरणमें ही संचित होते हैं। वृत्तियाँ दो प्रकारकी

होती हैं—क्लेशयुक्त, जिन्हें 'क्लिष्ट' कहते हैं और क्लेश-रहित, जिन्हें 'अक्लिष्ट' कहते हैं। क्लेश पाँच प्रकारके होते हैं—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। जो साधन या कर्म—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार आदि अक्लिष्ट वृत्तिके पोषक हैं, वे पुरुष-ख्याति और कैवल्यके अनुरूप हैं। इस मतमें उन्हें ही 'धर्म' माना जाता है। उनमें शौच, तपस्या, ईश्वरप्रणिधान, मैत्री, मुदिता आदिकी परिगणना है। योगदर्शनके मतमें निरोधानुकूल अनुष्ठेय कर्म ही 'धर्म' है।

६. पूर्वमीमांसाके प्रणेता जैमिनिके मतमें **धर्म उसे कहते हैं, जिसे वेदने हमारे कल्याणके साधनके रूपमें वर्णन किया है, वह है यागादि रूप क्रिया-कलाप।** वेदमें यज्ञ-यागादिको ही 'धर्म' कहा गया है। अन्यत्र भी अनुष्ठेय रूपमें धर्मका वर्णन मिलता है। उपनिषद् 'धर्म करो'—ऐसी आज्ञा देते हैं। हमारे प्राचीन महर्षि कहते हैं कि '**यं त्वार्याः क्रियमाणं प्रशंसन्ति स धर्मः यं गर्हन्ते सोऽधर्म इति।**' इससे भी 'धर्म' वेदविहित क्रिया-रूप ही सिद्ध होता है। कुमारिल भट्टने विभिन्न आचार्योंके द्वारा परिभाषित धर्मका उल्लेख करके उनका खण्डन भी किया है।

> अन्तःकरणवृत्त्यादौ वासनायां च चेतसः।
> पुद्गलेषु च पुण्येषु नृगुणेऽपूर्वजन्मनि॥

साथ ही—

> श्रेयो हि पुरुषप्रीतिः सा द्रव्यगुणकर्मभिः।
> चोदनालक्षणैः साध्या तस्मात्तेष्वेव धर्मता॥

पूर्वमीमांसाके एकदेशियोंका मत है कि यागादिके अनुष्ठानसे जो अपूर्वकी उत्पत्ति होती है, उसको धर्म कहते हैं; क्योंकि कर्मानुष्ठान और फल-प्राप्तिके बीचमें जो व्यवधान होता है, उसमें अपूर्वके रूपमें विद्यमान धर्म ही फल उत्पन्न करता है।

७. वेदान्त-दर्शनके प्रणेता व्यासके मतमें—**अन्तःकरणकी शुद्धिके साधक कर्मको ही 'धर्म' कहते हैं।** धर्मानुष्ठानसे उच्छृङ्खल कर्मपर नियन्त्रण स्थापित होता है। वासनाएँ मर्यादित होती हैं। वेद-वचनपर श्रद्धा होती है। कर्त्तव्याकर्त्तव्यकी मीमांसासे विवेक-शक्ति बढ़ती है। देहातिरिक्त आत्माकी ओर ध्यान जाता है। धर्मके द्वारा आराध्य दैवी शक्तियोंका ज्ञान होता है। धर्मके न्यूनाधिक्यके अनुसार पितृलोक, देवलोक, ब्रह्मलोक आदि-का विचार होता है। फलदाता ईश्वर है—इसपर विश्वास होता है। धर्मका निष्काम अनुष्ठान करनेपर निष्कामताकी प्रतिष्ठा होती है। वस्तुतः अन्तःकरणका जागरूक रहकर निष्काम होना ही उसकी 'शुद्धि' है। शुद्धिसे वैराग्य और जागरूकतासे विवेकका उदय होता है।

व्यासाचार्यने **लोकहितकारी कर्मको भी 'धर्म' कहा है।** उनका अभिमत है कि प्रबुद्ध पुरुष अन्वयव्यतिरेक-दृष्टिसे हिताहितका विचार करके जो कर्म करता है, वह लोककल्याणकारी होता है। इस प्रकारके धर्म-विचारमें साधारण मनुष्यका अधिकार नहीं है; क्योंकि वह अपने विवेकको वासनाओंसे अभिभूत कर देता है। इसलिये इस सम्बन्धमें सावधान रहना चाहिये कि किसी निषिद्ध कर्मको लोकहितकारी न समझ लिया जाय।

८. धर्माचार्य मनुने **जीवनमें दस पदार्थोंके धारण-को 'धर्म' कहा है।**

१. धृति—धनादिका नाश होनेपर चित्तमें धैर्य बना रहना (मेधातिथि)। प्रारम्भ किये हुए कर्ममें बाधा और दुःख आनेपर भी उद्विग्न न होना (सर्वज्ञ नारायण)। संतोष रखना (कुल्लूक भट्ट एवं गोविन्दराज)। अपने धर्मसे स्खलित न होना (राघवानन्द)। अपने धर्मको कभी न छोड़ना (नन्दन)। अनुद्विग्न भावसे कर्तव्यका पालन (रामचन्द्र)।

२. क्षमा—दूसरेके अपराधको सह लेना (मे० ति० तथा गो० रा०)। क्रोधोत्पत्तिके कारण उपस्थित होनेपर भी क्रोध न करना (स० ना०)। किसीके अपकार करनेपर बदला न लेना (कु०)। द्वन्द्वसहिष्णुता (राघवानन्द)। अपमान सह लेना (नन्दन)। शान्ति (राम०)।

३. दम—उद्दण्ड न होना। तपस्या करनेमें जो क्लेश हो, उसे सह लेना। विकारके कारण उपस्थित रहनेपर भी मनको निर्विकार रखना। मनको रोक रखना। मनको मनमानी न करने देना। द्वन्द्वसहिष्णु होना।

४. अस्तेय—दूसरेकी वस्तुमें स्पृहा न होना। अन्यायसे परधनादिका ग्रहण न करना। परद्रव्यको न लेना।

५. शौच—आहारादिकी पवित्रता। स्नान-मृत्तिकादिसे

शरीरको शुद्ध रखना । शास्त्रकी रीतिसे शरीरको शुद्ध रखना । बाह्याभ्यन्तरकी पवित्रता ।

६. **इन्द्रियनिग्रह**—इन्द्रियोंको विषयोंमें प्रवृत्त न करना । नेत्रादि इन्द्रियोंको उनके विषयोंसे अलग रखना । जितेन्द्रिय होना ।

७. **धी**—भलीभाँति समझना । प्रतिपक्षके संशयको दूर कर सकना । आत्मोपासना । शास्त्रके तात्पर्यको समझना । बुद्धिका अप्रतिहत होना ।

८. **विद्या**—आत्मानात्मविषयक विचार । बहुश्रुत होना । आत्मोपासना ।

९. **सत्य**—मिथ्या और अहितकारी वचन न बोलना । यथार्थ बोलना । अपनी जानकारीके अनुसार ठीक बोलना ।

१०. **अक्रोध**—क्षमा करनेपर भी कोई अपकार करे, तब भी क्रोध न करना । दैववश क्रोध उत्पन्न होनेपर उसको रोकनेका प्रयत्न । क्रोधका कारण होनेपर भी क्रोध न होना । अपने मनोरथमें बाधा डालनेवालोंके प्रति भी चित्तका निर्विकार रहना ।

किसी-किसी पुस्तकमें 'धी'के स्थानपर 'ह्री'का उल्लेख है । उसका अर्थ है 'कि अकर्तव्यसे निवृत्त करनेवाला ज्ञान-विशेष । निषिद्ध कर्म करनेमें लज्जा आना । अपनेको अकर्तव्यसे बचाना ।'

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥

(मनुस्मृति ६ । ९२)

मनुस्मृतिमें ये सब धर्म-लक्षण स्थान-स्थानपर बिखरे हुए हैं । मनुजीने स्वयं इनको समेटकर स्पष्ट-स्पष्ट समझा देनेके लिये इकट्ठा करके वर्णन किया है ।

९. महाभारतके मतसे **'धर्म' वह वस्तु है जो प्राणिमात्रके भरण-पोषण-धारण अर्थात् योगक्षेम-विधानमें समर्थ हो** । अभिप्राय यह है कि यह मनुष्य-जीवन प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ है । यह जन्म प्राप्त करके यदि मनुष्यत्वकी रक्षा न की जाय तो पुनः जडत्वकी प्राप्ति हो जाती है । 'धर्म' इसकी चेतनताको प्रबुद्ध करता है, जगाता है । 'अधर्म' जडताकी ओर झोंकता है । प्राप्त मनुष्यत्वकी रक्षा और प्राप्तव्य परमेश्वरकी प्राप्ति धर्मके द्वारा ही होती है । वस्तुतः यही 'योगक्षेम' है । धर्म केवल मनुष्यत्व-का ही रक्षक नहीं है, मनुष्यमें रहकर प्राणिमात्रका रक्षक है । इसीसे मनुष्यके व्यवहारमें दूसरे प्राणियोंके प्रति हिंसाभावका निषेध है । वस्तुके वस्तुत्वको सुरक्षित रखना और विकसित करना धर्मका काम है ।

धारणाद् धर्मं इत्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः ।
यत्स्याद् धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः ॥

१०. भरद्वाज ऋषिके मतमें **जिस कर्मसे तमोगुणका ह्रास और सत्त्वगुणका प्रकाश हो उसे 'धर्म' कहते हैं** । अनेक मतोंमें त्रिगुणके द्वारा ही समग्र सृष्टिकी व्याख्या की गयी है । तम और सत्त्वके बीचमें रजोगुण पड़ता है । यही ज्ञानको वासनासे रँगता है और तमोगुणको बढ़ाकर आलस्य, निद्रा, प्रमादादिके द्वारा उसे ढँक देता है । फिर तो, मनुष्य जडवत् मूढ़ हो जाता है अथवा जड अवस्थामें चला जाता है । परंतु रजोगुणी कर्म यदि शास्त्रीय अथवा महा-पुरुषोक्त प्रक्रियासे किया जाय तो वही मूढतासे मुक्त करके ज्ञानका वासनोपराग मिटा देता है और उसे शुद्ध कर देता है । सत्त्वगुणकी वृद्धिके दो लक्षण हैं—प्रकाश और अनासक्ति । सुखासक्ति और बौद्धिक अहंकारसे बचकर धर्मानुष्ठान करनेसे सत्त्वकी वृद्धि होती है । इसमें सदाचारी जीवन, यथार्थ ज्ञान और आसक्तिरहित आनन्दकी उत्पत्ति होती है ।

११. याज्ञवल्क्य मुनिके मतमें **यज्ञ, सदाचार, दम, अहिंसा, दान, स्वाध्याय आदि देश-काल-सापेक्ष 'धर्म' हैं और योगद्वारा आत्मदर्शन 'परमधर्म' है** । याज्ञवल्क्यजीने धर्मके पाँच प्रेरणास्रोत बताये हैं—वेद, वेदा-विरुद्ध स्मृति, दोनोंसे अविरुद्ध सदाचार, तीनोंसे अविरुद्ध आत्मप्रिय और चारोंसे अविरुद्ध स्वयं ग्रहण किया हुआ नियम । इस लक्षणमें मुख्य बात यह है कि आत्म-दर्शनको 'परमधर्म' माना गया है । इसका अभिप्राय यह है कि यदि कर्मानुष्ठानात्मक धर्मका परित्याग करके भी आत्मज्ञानके लिये प्रयत्न करना पड़े तो करना चाहिये । यह बात मनुस्मृतिमें स्पष्ट कही गयी है कि प्रणव-जप, उपनिषद्का पाठ, चित्त-शान्ति और आत्मज्ञानके लिये आवश्यक हो तो अग्निहोत्रादि कर्मका परित्याग कर देना चाहिये (१२ । ९२) ।

१२. इतिहासविद् आचार्योंका अभिमत है कि **परम्परा-गत सदाचार ही 'धर्म'का श्रेष्ठ लक्षण है** । इसका अभिप्राय यह है कि कालक्रमसे परिस्थितियाँ बदलती रहती हैं । देशभेदसे भी संस्कृतियोंमें अन्तर मिलता है । भिन्न-

भिन्न जाति और सम्प्रदायके लोगोंसे भी संसर्ग होता है— ऐसी अवस्थामें मनुष्य यदि अपने कुल-क्रमागत सदाचारका त्याग करने लगे तो वह कहींका नहीं रहेगा। संसर्गदोष, भौगोलिक दोष और परिस्थिति-दोषसे रक्षा करके जीवनको तपःपूत रखनेवाला यह परम्परागत सदाचार ही है। इसीसे **'आचारप्रभवो धर्मः'**—ऐसा कहा गया है। कहीं-कहीं **'आचारः प्रथमो धर्मः'** अथवा **'परमो धर्मः'** भी है। मनुस्मृति (४ । १७८) में कहा गया है कि 'जिस मार्गसे अपने पिता-पितामह गये हों अर्थात् उन्होंने जिस सदाचारका पालन किया हो, उसी मार्गसे चलना चाहिये। उससे चलनेवाले मनुष्यपर अधर्म आक्रमण नहीं करता।' सदाचार कहनेका अभिप्राय यह है कि उनके द्वारा किये गये कदाचार-का अनुसरण नहीं करना चाहिये। मनुस्मृति (४ । १७६) में लोकनिन्दित धर्माविरुद्ध आचरणका भी परित्याग कर देना चाहिये, ऐसा कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि शास्त्रार्थमें विवाद है; परंतु परम्परागत सदाचारसे कोई विवाद नहीं है।

१३. देवर्षि नारदके मतमें **महापुरुषकी आज्ञाके अनुसार कर्म करना ही 'धर्म' है**। नारद पञ्चरात्रके आचार्य हैं। वे श्रौत-स्मार्त-पद्धतिमें धर्मका जो लक्षण किया गया है, उससे कुछ विलक्षण बतलाते हैं। आचारसहित विद्याका उपदेश करनेवाला 'आचार्य' होता है। प्रत्येक व्यक्तिको उसकी योग्यताके अनुसार अभ्युदय-निःश्रेयसका उपाय बतानेवाला 'गुरु' होता है। गण्डकी नदीकी शिला 'शालग्राम' है और पूजामें रक्खी गयी शिला 'इष्टदेव' है। महापुरुष वेद, शास्त्र, पुराणका सार-सार जानते हैं। अपने अनुभवसे उनके अर्थका साक्षात्कार करते हैं। वे अपने शिष्यको लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये विशिष्ट साधनका उपदेश करते हैं। इसीके अनुसार भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय बनते हैं। नारदने जो धर्मका लक्षण किया है, उसके अनुसार बुद्ध, महावीर स्वामी, ईसा, मोहम्मद, जरथुस्त, नानक आदिके द्वारा उपदिष्ट मार्ग भी धर्म-लक्षणके साथ समन्वित हो जाते हैं; क्योंकि वे महापुरुषोंके द्वारा उपदिष्ट हैं। वर्णाश्रम-धर्म श्रौत-स्मार्त-पद्धतिके अनुसार है। उसमें वेद और तदनुकूल शास्त्र ही प्रमाण होते हैं। इस लक्षणके अनुसार भिन्न-भिन्न महापुरुषोंकी प्रामाणिकता भी स्थापित होती है।

१४. अङ्गिरा ऋषिके मतमें **भगवान्के प्रति अर्पित कर्म ही 'धर्म' है**। इस लक्षणमें एक विशिष्ट पद्धति स्वीकार की गयी। इसमें कर्ताके अधिकार, शास्त्रप्रमाण, महापुरुषके उपदेश अथवा कर्मके स्वरूपपर बल नहीं दिया गया है। इसमें यह कहा गया है कि कर्मका उद्देश्य संकीर्ण स्वार्थ है अथवा परमेश्वरकी प्रसन्नता ? जहाँ कर्म भगवत्-प्रसन्नताके लिये है, वहाँ 'धर्म' है और जहाँ संकीर्ण स्वार्थके लिये है, वहाँ नहीं। इसी दृष्टिकोणसे भक्तिमार्गमें धर्मका विचार किया गया है। 'कायेन वाचा०' भागवतके इस श्लोककी व्याख्यामें श्रीधर स्वामीने कहा है कि किसी विशेष कर्मका नाम भागवत-धर्म नहीं है, प्रत्युत भगवदर्पित सभी कर्म धर्म होते हैं। 'न केवलं विधितः कृतमेवेति नियमः स्वभावानु-सारिलौकिकमपीति।'

१५. **भगवान्के द्वारा आदिष्ट भगवत्प्रापक उपाय—नामोच्चारण, नाम-स्मरण, सर्व-कर्मार्पण, सर्वत्र भगवद्भाव आदि 'धर्म' हैं**—ऐसा भागवतका मत है। यह ध्यान देनेयोग्य है कि अजामिलके प्रसङ्गमें वेद-विहित और वेदनिषिद्धको धर्माधर्म मानकर यमदूतोंने स्वर्ग-नरक, प्रायश्चित्त और उससे मुक्तिका उपाय बताया था। वह सर्वथा वैदिक धर्मके अनुरूप है, उसमें किसी प्रकारका दोष भी नहीं है, परंतु भगवान्के पार्षदोंने उनकी बात नहीं मानी और केवल नामाभासको सम्पूर्ण पापोंका निवर्तक मानकर अजामिल-जैसे पापीको उनके हाथोंसे छीन लिया और उसे साधनके मार्गपर डाल दिया। जब यमदूत यमपुरीमें यमराजसे इसका रहस्य पूछने लगे, तब उन्होंने भागवत-धर्मका स्वरूप बताया। यमराज बारह भागवतोंमेंसे एक हैं। उनका कहना है कि 'धर्मके प्रणेता स्वयं भगवान् ही हैं। बड़े-बड़े ऋषि और देवताओंको भी धर्मका रहस्य ज्ञात नहीं है। हम बारह भागवत धर्मको जानते हैं। नामोच्चारण आदिके द्वारा भगवान्के प्रति भक्तियोग ही परम धर्म है।'

इस प्रसङ्गमें एक प्रश्न उठाया गया है कि 'यदि नामोच्चारण आदि सरल साधनोंसे ही बड़े-बड़े पापोंकी निवृत्ति हो जाती है तो धर्मशास्त्रके ग्रन्थोंमें बारह-बारह वर्षतक व्रत करके पापोंकी निवृत्तिके प्रायश्चित्तका विधान क्यों है ? (इसके उत्तरमें कहा गया है कि' जैसे मृतसंजीवनी ओषधिको न जाननेवाले वैद्य रोग मिटानेके लिये त्रिकटु, निम्ब आदि औषधोंका प्रयोग करते हैं, वैसे ही नाम-

स्मरणके माहात्म्य न जाननेवाले महाजन बड़े-बड़े उपाय बताते हैं। यहाँ 'महाजन' शब्दका अर्थ बताते हुए कहा गया है कि जिन बारहोंका नाम लिया गया है, उनके अतिरिक्त मुनिगण (श्रीधर), शास्त्रज्ञ जन (वीर राघव), जैमिनि आदि (विश्वनाथ चक्रवर्ती)। इनके सम्बन्धमें स्पष्ट उल्लेख है कि माया देवीने इन महाजनोंकी बुद्धि हर ली है। ये मधु-पुष्पिता त्रयीके मीठे-मीठे वचनोंमें फँस गये हैं। जडीकृत हो गये हैं। इन्हें बड़े-बड़े कर्म ही पसंद आते हैं।* इसका अर्थ है कि भगवत्प्रोक्त और भगवत्प्रापक उपाय नामोच्चारणादि अत्यन्त सुगम एवं सार्वजनिक धर्म हैं। इसके-जैसा ईश्वरके साथ सम्बन्ध जोड़नेवाला दूसरा कोई धर्म नहीं है।

भागवतके प्रथम स्कन्धके दूसरे अध्यायमें यह निरूपण किया गया है कि जिससे भगवान्‌में अहेतुक और अप्रतिहत भक्ति हो उसको परम धर्म कहते हैं। जिससे भगवत्कथामें रति हो वही धर्मानुष्ठान है, शेष श्रम है। धर्मका मुख्य फल अपवर्ग है, धन नहीं। भलीभाँति अनुष्ठित धर्मका फल हरितोषण है। धर्मका परम तात्पर्य भगवान्‌में ही है। इसीसे आप समझ सकते हैं कि भागवतमें धर्मका क्या स्वरूप स्वीकार किया गया है?

१६. इसके अतिरिक्त भागवतमें नारदजी युधिष्ठिरसे कहते हैं—

> सत्यं दया तपः शौचं तितिक्षेक्षा शमो दमः।
> अहिंसा ब्रह्मचर्यं च त्यागः स्वाध्याय आर्जवम्॥
> सन्तोषः समदृक् सेवा ग्राम्येहोपरमः शनैः।
> नृणां विपर्ययेहेक्षा मौनमात्मविमर्शनम्॥
> अन्नाद्यादेः संविभागो भूतेभ्यश्च यथार्हतः।
> तेष्वात्मदेवताबुद्धिः सुतरां नृषु पाण्डव॥
> श्रवणं कीर्तनं चास्य स्मरणं महतां गतेः।
> सेवेज्यावनतिर्दास्यं सख्यमात्मसमर्पणम्॥
> नृणामयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृतः।
> त्रिंशल्लक्षणवान् राजन् सर्वात्मा येन तुष्यति॥
>
> (श्रीमद्भागवत ७। ११। ८—१२)

सत्य, दया, तपस्या, शौच, तितिक्षा, उचित-अनुचितका विचार, मनका संयम, इन्द्रियोंका संयम, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, त्याग, स्वाध्याय, सरलता, संतोष, समदर्शी, महात्माओंकी सेवा, धीरे-धीरे सांसारिक भोगोंकी चेष्टासे निवृत्ति, मनुष्यके अभिमानपूर्ण प्रयत्नोंके परिणामकी विपरीतताको देखना, मौन, आत्म-चिन्तन, प्राणियोंको अन्न आदिका यथायोग्य विभाजन, उनमें और विशेष करके मनुष्योंमें अपने आत्मा तथा इष्टदेवका भाव, संतोंके परम आश्रय भगवान् श्रीकृष्णके नाम-गुण-लीला आदिका श्रवण, कीर्तन, स्मरण, उनकी सेवा, पूजा और नमस्कार; उनके प्रति दास्य, सख्य और आत्म-समर्पण—यह तीस प्रकारका आचरण सभी मनुष्योंका परम धर्म है। इसके पालनसे सर्वात्मा भगवान् प्रसन्न होते हैं।

इन सब लक्षणोंके प्रकाशमें आप धर्मपर विचार कीजिये। किसी एकाङ्गी लक्षणमें अपनी बुद्धिको आबद्ध मत कीजिये। आप देखेंगे कि ये लक्षण इतने उदार, उदात्त एवं व्यापक हैं कि इसमें सम्पूर्ण विश्वके सार्वकालिक, सार्वदेशिक एवं अखिल साम्प्रदायिक मत-मजहबोंका संनिवेश हो जाता है। क्या आपकी दृष्टि इतनी संकीर्ण है कि जो आपके द्वारा मान्य लक्षण है, उसमें जिसका संनिवेश हो उसको 'धर्मात्मा' माने और जो दूसरे लक्षणके अन्तर्गत हो, उसको 'अधार्मिक'? आप इन सभी लक्षणोंपर विचार कीजिये और अपनी अन्तःकरणकी संकीर्णताका परित्याग करके सबमें व्यापक धर्मसत्ताका अनुभव कीजिये। इससे आपके मनमें जो राग-द्वेष, संघर्ष-कटुता, विरोध-वैमनस्य आदिकी भावनाएँ आ-आकर आपको दुखी बनाती हैं, वे शान्त हो जायँगी और आप परमार्थ-पथपर अग्रसर होंगे।

---

* प्रायेण वेद तदिदं न महाजनोऽयं देव्या विमोहितमतिर्बत माययालम्।
त्रय्यां जडीकृतमतिर्मधुपुष्पितायां वैतानिके महति कर्मणि युज्यमानः॥
(श्रीमद्भा० ६। ३। २५)

सत्संग-वाटिकाके बिखरे सुमन

१—भजनका अर्थ है—प्रेमपूर्वक मनसे भगवान्का स्मरण होना। भगवान्को अपना बनाकर भगवान्को देखते हुए, भगवान्को सुनाते हुए, भगवान्को रिझाते हुए उनका भजन करना चाहिये। इस भजनमें रूखापन नहीं होता, बेगार नहीं कटती; भजन करनेमें रस आता है—सुखका अनुभव होता है, ऐसी इच्छा होती है कि भजन करते ही रहें।

२—गीतामें भगवान्ने जहाँ-जहाँ प्रतिज्ञा कर सारा भार अपने ऊपर लिया है, वहाँ-वहाँ उन्होंने एक ही शर्त रक्खी है—'मेरा निरन्तर चिन्तन हो।' भगवान्की इस शर्तको हम तत्परताके साथ पूरा करते रहें; बस, यही करना है।

३—जगत् भगवान्के रूपमें बदल जाय और तब जगत्का स्मरण हो तो वह तो भगवान्का ही स्मरण है। जगत् भगवान्से पृथक् है, जगत्के पदार्थ सुख-दुःख देनेवाले हैं, ऐसी धारणा लेकर जगत्का, जगत्के पदार्थोंका चिन्तन-स्मरण हो तो वह भगवान्का स्मरण-चिन्तन नहीं है।

४—साधकको चाहिये कि मन-इन्द्रियोंको निरन्तर सत्-विषयमें लगावे, उन्हें भगवदभिमुख करे। मन-इन्द्रियोंका सम्बन्ध भगवान्के साथ जोड़ दे।

५—भगवान्की कृपाका अवलम्बन हो, भगवान्का आश्रय हो और अभ्यास-वैराग्यमें लगा जाय तो सफलतामें विलम्ब नहीं होता।

६—संसारका स्वरूप है—आना-जाना, घटना-बढ़ना, बनना-बिगड़ना। जगत् एक प्रवाह है। उसमें वस्तुएँ बनती हैं; नयी पैदा होती हैं और नष्ट होती हैं। किसी भी वस्तुमें स्थिरता, नित्यता नहीं है। नित्यपरिवर्तन इसका स्वभाव है—यहाँ न एकरसता है, न एकरूपता है और न नित्यता है;—सब परिवर्तनशील है, अनित्य—विनाशी है। अतएव निरन्तर परिवर्तनशील एवं अनित्य विनाशी वस्तुओंसे नित्य सुखकी प्राप्ति नहीं हो सकती; ये तो नित्य दुःखदायिनी ही हैं।

७—संसारको पकड़कर इससे, इसके पदार्थोंसे हम सुखकी आशा रखते हैं—यही हमारा भ्रम है। संसारसे, संसारके पदार्थोंसे हमें सुख मिलेगा नहीं। कारण, इनमें सुख है नहीं। यह भ्रम जितनी जल्दी दूर हो जाय, उतना ही अच्छा है।

८—भगवत्सम्बन्धी साधन—यदि उसमें बाहरी चीज नहीं है, दम्भ नहीं है, तो न उसका कभी सिलसिला टूटता है और न उसका कभी बुरा फल होता है। जो कभी जरा-सा भी भगवान्से जुड़ जाता है, भगवान् उसे छोड़ते नहीं हैं; देर-सबेर उसे अपनी शरण देते ही हैं। भजनमें यह नहीं होता कि 'होम करते हाथ जल गया।'

९—भजनका फल अमोघ होता है। थोड़ा-सा भी भजन महान् भयसे तार देता है। सबसे बड़ा भय है—जन्म-मृत्युका चक्कर। अन्य सब भय क्षणिक हैं, पर यह भय अनादिकालसे चला आ रहा है और इसका किसीको भी कुछ भी ज्ञान नहीं है कि यह कब समाप्त होगा और कैसे समाप्त होगा। भगवान्का असली भजन—चाहे वह थोड़ा ही हो—इस महान् दुःखसे, क्लेशसे, भयसे तार देता है। अतएव भगवान्के भजनमें लगना चाहिये और उसको असली भजनका रूप देना चाहिये।

१०—भगवान्के मार्गमें सचाईसे लगना है। इसमें अधिक बुद्धि-विद्याकी आवश्यकता नहीं है। इसमें तो सरल शिशुकी भाँति सहज माँकी गोदमें जाना है; केवल भावकी, विश्वासकी आवश्यकता है। बच्चेकी मातृ-परायणता—माँकी गोदमें घुसनेकी इच्छा, उसे सदा माँकी ओर उन्मुख रखती है। बस, बच्चेकी भाँति हमलोग सदा भगवान्के उन्मुख रहें—सचाईके साथ उन्मुख रहें।

११—प्राण जैसे सहज-स्वाभाविक हैं, वैसे ही भगवान् भी सबके लिये सहज हैं, स्वाभाविक हैं। उनके लिये किसी विशेष प्रयत्नकी आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता है सहज विश्वासके साथ उनके स्मरणकी।

१२—असली भजनका अर्थ है—जहाँ रंचमात्र संदेह न हो, 'किंतु-परंतु' न हो, दिखावा न हो, दम्भ न हो; सरलतासे सहज विश्वासके साथ भगवान्का स्मरण-चिन्तन होता रहे। ऐसा भजन भगवान्की कृपाको प्रकट कर देता है।

१३—हिंदू मूर्ति-पूजक नहीं हैं, वे भगवत्पूजक हैं। उनकी मूर्तिपूजा बुतपरस्ती नहीं है, वह भगवत्पूजा है और उसमें उन्हें भगवान्की प्राप्ति होती है।

१४–जहाँ विद्या-बुद्धिका आश्रय है, वहाँ तत्त्वका विवेचन, चिन्तन होता है। ऐसे साधकको तत्त्वका साक्षात्कार होता है। इसके पश्चात् किसीको भगवान्‌के दर्शन हो जायँ तो हो जायँ। पर जहाँ सरल विश्वास होता है, वहाँ सहजभावसे भगवान्‌का भजन होता है और भगवान् प्रकट होकर दर्शन देते हैं। पीछे भगवान् आवश्यकता समझते हैं तो उसे तत्त्वका ज्ञान भी करा देते हैं। ध्रुवको पहले भगवान्‌के दर्शन हुए, तत्त्वका ज्ञान पीछे।

१५–भगवान्‌के भजनमें प्रथम आवश्यकता है—सरल विश्वासकी; विधिकी आवश्यकताका उसमें दूसरा स्थान है। एक व्यक्ति बड़े विधि-विधानसे भगवान्‌का पूजन करता है, पर उसके विश्वासमें कमी है कि भगवान् उसके पूजनको ग्रहण कर रहे हैं! तो उस पूजनका महत्त्व कम हो जाता है। सरल विश्वासके साथ यदि विधि भी हो तो उत्तम है।

१६–भगवत्स्मरण जो निरन्तर होता है, प्रीतिपूर्वक होता है, रसयुक्त होता है, आनन्ददायक होता है, शान्तिकर होता है—वही स्मरण वास्तविक है। प्रयत्न रखकर इस प्रकारके स्मरणका अभ्यास करना चाहिये।

१७–प्रत्येक कार्यके प्रति चार प्रकारके भाव होते हैं—अनन्य, मुख्य, गौण एवं उपेक्षित। यही कार्य करना है, दूसरा कार्य हमारे लिये है ही नहीं—यह 'अनन्य भाव' है। इस कार्यको सबसे पहले करना है, पीछे दूसरे कार्यको करेंगे—यह 'मुख्य भाव' है। इस कार्यको करना तो है, पर पहले दूसरे जरूरी कार्य करने हैं, उनको किया जाय—यह 'गौण भाव' है। यह कार्य करना है—पर उसे किया, न किया, कोई बात नहीं—यह 'उपेक्षित भाव' है। भगवान्‌के चिन्तनके प्रति हमारा भाव हो रहा है—उपेक्षित एवं गौण; वह मुख्य भी नहीं हो पाता। पर वास्तवमें होना चाहिये उसके प्रति अनन्य भाव। अनन्य भावके भी दो भेद हैं—'हैतुक अनन्य' और 'अहैतुक अनन्य'। किसी कामनाको लेकर अनन्य भावसे भगवान्‌को पुकारना—जैसे द्रौपदीने भगवान्‌को पुकारा था—'हैतुक अनन्य भाव' है। प्रह्लादकी भाँति बिना किसी हेतुसे अनन्य भावसे भगवान्‌का स्मरण-चिन्तन करना 'अहैतुक अनन्य भाव' है। भगवान्‌को यह भाव सबसे अधिक प्यारा है।

१८–क्षणभरका भगवान्‌के स्मरणका वियोग सहन न हो, प्राण छटपटाने लग जायँ भगवान्‌के स्मरणके बिना, तब समझना चाहिये कि वास्तविक भजन हो रहा है।

१९–भक्तके लिये भगवान्‌के अतिरिक्त और कुछ रह ही नहीं जाता है। लोक और लोक-संग्रह—ये नहीं रह जाते भक्तिकी ऊँची स्थितिमें। वहाँ केवल रह जाते हैं—भगवान् एवं भक्त। यह स्थिति बहुत ऊँची है। इसके पहले भगवान्‌के प्रति कम-से-कम मुख्य भाव हो अर्थात् भगवान् पहले और सब कुछ पीछे। यह होने लगता है तो भगवान्‌का स्मरण-भजन बनने लग जाता है।

२०–सत्सङ्ग, भगवान्‌के नामका जप, किसी भी प्राणीको किसी भी प्रकारसे दुःख न पहुँचानेकी सावधानी और भगवान्‌के भावसे सबकी सेवा करनेका भाव—साधन-भक्तिमें ये चार मुख्य चीजें हैं। साधकको प्रारम्भिक अवस्थामें इन चारोंको सावधानीसे पकड़ना चाहिये।

२१–हमलोग सेवा करवानेमें अपनेको भाग्यशाली मानते हैं—यह हमारी बड़ी भूल है। भाग्यशाली हम तब हैं, जब हम भगवद्भावसे सबकी सेवा करें; जो सामने आ जाय, यथायोग्य उसीकी सेवा करें।

२२–पशु-जीवनमें भोगोंका विस्तार नहीं है। पशु-जीवन नियमित है बहुत बातोंमें। उसमें मनुष्य-जीवनकी अपेक्षा बहुत संयम है, पर पशु-जीवनमें भविष्यका विचार नहीं है, इससे वह मनुष्य-जीवनसे हीन-जीवन माना गया है। मनुष्य यदि अपनी इस श्रेष्ठताको, भविष्यके शुभकी चिन्ताको छोड़कर वर्तमानके सुख-भोगोंमें लग जाता है तो वह पशुसे भी नीचा हो जाता है। अतएव अपने विवेकको सदा जाग्रत् रखते हुए जीवनको वर्तमानके सुख-भोगोंसे विरत कर भविष्यके वास्तविक सुख-सम्पादनमें लगाना चाहिये।

२३–लोभी व्यक्ति धनके लिये सदा आतुर रहता है—वह धनको बटोरता है, संग्रह करता है, उसकी रक्षा करता है। जो साधक सेवा–धनका लोभी है, वह निरन्तर सेवाधन-के लिये आतुर रहता है। वह बराबर यही चिन्ता रखता है—'सेवा मिले'। ऐसे साधकको सेवामें ही भगवान्‌के दर्शन होते हैं।

२४–मनुष्य विवेकके कारण ही पशु-पक्षियोंसे श्रेष्ठ माना गया है। जो मनुष्य अपने विवेकको खो देता है, वह पशु-पक्षियोंसे बदतर हो जाता है। एक हिंसक पशु कितने

प्राणियोंको प्रतिदिन मारता है अपने पेट भरने भरके लिये ? परंतु जब मनुष्यमें हिंसा-वृत्ति जग जाती है तो उसके पास साधन है, बुद्धि है—उनके द्वारा वह बड़े-बड़े कसाईखानोंकी योजना बनाकर या अन्यान्य हिंसामय साधनोंसे लाखों, करोड़ोंका वध प्रतिदिन कर डालता है । आज जो सर्वत्र हिंसाका बोलबाला है, उससे यह स्पष्ट है कि मनुष्यने अपना विवेक खो दिया है ।

२५–भजनका स्वाभाविक फल है—दैवी-सम्पत्तिकी वृद्धि । जिसमें दैवी-सम्पत्ति बढ़ रही हो, समझ लेना चाहिये कि उसका भजन बढ़ रहा है ।

२६–दैवी-सम्पत्ति एवं भजन—दोनों परम आवश्यक हैं । जो केवल दैवी-सम्पत्तिका आश्रय लेकर चलते हैं, भजनको साथ नहीं रखते, उनके लिये यह डर बना रहता है कि न जाने कब उनका मन दैवी-सम्पत्तिको छोड़ दे । वास्तवमें दैवी-सम्पत्ति भगवान्के आश्रयसे ही टिकती है ।

२७–मनमें जगत्, जगत्के विषय भरे हैं । मनसे जगत्-को निकालनेका प्रयत्न न कर भगवान्को मनमें भरना आरम्भ करें, जगत् अपने-आप मनसे निकलता चला जायगा । जमीनमें एक बर्तन गड़ा है और उसमें जल भरा है । बर्तन-को उँड़ेलकर जल निकालना सम्भव नहीं । ऐसी स्थितिमें बर्तन जलसे खाली कैसे हो ? शीशा जलसे बहुत भारी होता है । शीशेको हाँडीमें डालना आरम्भ कीजिये । शीशा जितनी-जितनी जगह लेता जायगा, उतना-उतना जल अपने आप बहकर बाहर निकल जायगा । हाँडी भर दें शीशेसे, पानी सब बाहर हो जायगा । इसी प्रकार जैसे-जैसे जितना स्थान भगवान् हमारे हृदयमें रोकेंगे, उतना-उतना वह विषयोंसे खाली होता जायगा । हृदय भगवान्से पूरा भरा कि विषय सब निकल बाहर हो जायँगे । अन्धकारको निकालनेका प्रयत्न मत कीजिये, प्रकाश ले आइये । अन्धकार अपने-आप मर जायगा ।

२८–मनका परिवर्तन होना कठिन नहीं है । हमने इसे कठिन मान रक्खा है, यही कठिनता है । मन तो गाय है । गायको नये खूँटेपर बाँधकर अच्छा खानेको दिया जाय तो गाय वहीं रम जाती है । ऐसे ही हम मनको भगवान्में लगाकर उसे भगवान्के स्वरूप-सौन्दर्य एवं गुण-माधुर्यका स्वाद दें तो वह भगवान्में ही रम जायगा, जगत्की ओर झाँकेगा ही नहीं । सभी भक्तोंने यही किया है ।

२९–अपनेको आस्तिक कहना और बात है, तथा वास्तवमें आस्तिक होना और बात है । हमें वास्तविक रूपमें आस्तिक बनना चाहिये अर्थात् जीवनकी प्रत्येक स्थितिमें हमें भगवान्की मङ्गलमयताकी अनुभूति होनी चाहिये और मनमें सदा निश्चिन्त रहना चाहिये ।

३०–ऋषियोंमें एवं आजके मानवमें सैद्धान्तिक मतभेद है । ऋषियोंने असंतोषको उन्नतिका मूल माना था—परमार्थमें, सदाचारकी प्राप्तिमें, भजनमें; पर आधुनिक जगत् असंतोषको स्थान देता है—लौकिक वस्तुओंके लिये । ऋषियोंने लौकिक वस्तुओंके लिये तो संतोषको अपनानेका आदेश दिया है, जिससे जीवनमें शान्ति प्राप्त हो सके । लौकिक वस्तुओंके प्रति असंतोषका अवश्यम्भावी परिणाम है—अशान्ति, कलह, हिंसा, दुःख । आजकी स्थिति इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है ।

३१–ऋषियोंका सिद्धान्त था—'सीधा-सादा, निष्पाप, सरल जीवन बिताते हुए अपने परम लक्ष्य मोक्षकी ओर बढ़ा जाय ।' इसी सिद्धान्तको सामने रखकर उन्होंने समाजका निर्माण किया और इसीके अनुसार जीवन बना । इसके विपरीत लोक-सुख ही सब कुछ है, परलोक कुछ नहीं, भगवान् कुछ नहीं, यहाँ सुख भोगकर मर जायँ—बस, यही आजके जगत्का सिद्धान्त हो गया है । इसीसे परस्पर छीना-झपटी है, कलह है, पाप है, दुःख है, दुर्गति है ।

३२–दुःख क्या है ? अनुकूलताके अभावका बोध । जहाँ-जहाँ प्रतिकूलता है, वहाँ-वहाँ अभावका बोध होता है और इससे हम दुखी होते रहते हैं । अतएव दुःखकी निवृत्तिके लिये सब परिस्थितियोंमें अनुकूलताकी भावना करनी चाहिये ।

३३–भगवान्के साथ सम्बन्ध जुड़कर जो कार्य होता है, वह भगवान्की सेवा है, भगवान्की पूजा है । भगवान्की पूजाके लिये कहीं जाना नहीं है । भगवान्के सम्बन्धसे जो भी कार्य किया जाय, वही पूजा है ।

३४–कर्म कोई भी हो, पर यदि वह भगवान्के सम्बन्धसे होता है तो उसके दोष निकल जाते हैं । कर्म चाहे विकट हो, चाहे सौम्य, उसके द्वारा हम भगवान्की सेवा कर सकते हैं । भगवान्ने आदेश किया है—'अपने-अपने कर्मसे मेरी पूजा करो ।' हम अपने कर्मको अच्छा न समझकर दूसरेके

कर्मको अपनाते हैं तो उसमें खेल बिगड़ जाता है । जैसे एक अभिनेता अपने अभिनयके विपरीत किसी दूसरे अभिनेताका अभिनय करने लग जाय—फिर चाहे वह अभिनय कितना ही सुन्दर क्यों न हो—वह खेलको बिगाड़ देता है । अतएव अपने जिम्मे जो काम भगवान्ने दिया है, हमें उसीको भगवान्की पूजाकी भावनासे करना चाहिये ।

३५–'मूक सेवा' बड़े महत्त्वकी होती है, किसीको पता न लगे और सेवा हो जाय ।

३६–सेवामें जहाँ फलका अनुसंधान है, वहाँ भगवान्की विस्मृति हो जाती है ।

३७–जो सेवा स्वान्तःसुखाय होती है, वह पवित्र होती है; जो सेवा दूसरेके लिये होती है, उसमें नीचा भाव आ जाता है ।

३८–जिस क्रिया, पदार्थ, स्थितिसे भगवान्के साथ सम्बन्ध हो, भक्तके लिये वे ग्राह्य होती हैं और जिनसे भगवान्का कोई सम्बन्ध नहीं, वे उसके लिये त्याज्य हैं ।

३९–मनका एक बड़ा अच्छा गुण है कि वह जिस कार्यमें लगता है, उसीके आकारका हो जाता है । हमने इसे विषयोंमें लगा रक्खा है, इससे यह विषयाकार हो रहा है । हम इसे भगवान्में लगा दें, यह भगवदाकार हो जायगा । अतएव दोष हमारा है, मनका नहीं ।

४०–जिसका चिन्तन होगा, उसमें मन फँसेगा, उसके प्रति मनमें आसक्ति होगी । आसक्ति होनेसे उसे प्राप्त करनेकी इच्छा जागेगी । इच्छा होनेपर इच्छा पूर्ण होनेसे अधिकके लिये लोभ होगा या इच्छामें बाधा होनेपर क्रोध होगा । क्रोध या लोभके जागनेपर मनुष्य भलीभाँति मोहित हो जाता है । मोह होनेपर मनुष्य परिणामको भूल जाता है । भलीभाँति मोहित होनेपर कर्तव्य एवं फलका विस्मरण हो जाता है । स्मृति-विभ्रमसे बुद्धिनाश होता है—भले-बुरेका विवेक, भविष्यके परिणामकी चिन्ता जाती रहती है और बुद्धिके नाश हो जानेपर मनुष्यका विनाश हो जाता है । इस प्रकार मनुष्यके विनाशमें मूल हेतु विषय-चिन्तन है । अतएव सबसे पहले हमें विषय-चिन्तनको बदलना है और उसके स्थानपर भगवच्चिन्तनको अपनाना है ।

४१–विषय-चिन्तनके बदलेमें यदि भगवच्चिन्तन होने लग जाय तो दुराचारी भी शीघ्र पार हो जाता है । भगवच्चिन्तनकी इच्छा होनेपर यह सरलतासे होता है, कारण, इसमें भगवान्की कृपाशक्ति सहायता करती है ।

४२–भगवान्की ओर प्रवृत्ति हो जानेकी आवश्यकता है, फिर वे अपने-आप खींच लेंगे ।

४३–जीवनमें शान्ति पदार्थोंसे नहीं मिलती, शान्ति तो अपने अंदर है, भगवान्में है । मनको भगवान्में लगाइये, फिर शान्ति अपने-आप ही प्राप्त हो जायगी ।

४४–लोक-निन्दा और लोक-प्रशंसा—दोनोंका ही कोई मूल्य नहीं है । यदि मन भगवान्में लग रहा है तो उत्तम-से-उत्तम कार्य हो रहा है । चुपचाप, किसीको बिना जनाये—मनको भगवान्में लगाये रहिये । लोगोंको पता ही न लगने दीजिये कि आपका भगवान्में प्रेम है ।

४५–भगवान्की कृपाके दर्शन तब होते हैं, जब साधक अपनेको न देखकर भगवान्को, उनकी कृपाको देखता है ।

४६–अपनेको सद्गुणी मानना सद्गुणोंको प्राप्त करनेकी चेष्टाका अन्त करना है ।

४७–जीवन-परिवर्तनके लिये ये साधन आवश्यक हैं—

(क) भगवान्की कृपापर विश्वास ।

(ख) भगवान्के अनुकूल आचरण ।

(ग) जहाँतक हो सके, भगवान्के नामका रटन । आन्तरिक प्रेमसे, गुप्त भावसे नामका रटन हो, तब तो सर्वोत्तम है ही, पर यदि बाह्य भी हो तो भी बहुत अच्छा है ।

(घ) दूसरेको सुधारनेकी चेष्टामें न फँसे । अपने आपको सर्वथा उपराम रक्खे और अपने सुधारमें लगा रहे ।

(ङ) भगवान्के गुण, लीला, प्रभाव, नाम आदिको बार-बार सुने-सुनावे ।

४८–जगत्के चिन्तनको छोड़नेके लिये भगवान्की लीलाओंका चिन्तन सर्वोपरि साधन है ।

४९–साधनहीनका साधन है—भगवान्की शरणागति, भगवान्की कृपाका आश्रय ।

५०–विश्वास कीजिये—जिसमें कोई योग्यता नहीं, उसमें भगवान्को आश्रयरूपमें प्राप्त करनेकी योग्यता है ।

अलौकिक विवेक-दृष्टिमें माया

(लेखक—श्रीश्रीकान्तशरणजी महाराज)

श्रीरामचरितमानस बालकाण्ड १५०के पश्चात्‌की चौपाई है—

मातु बिबेक अलौकिक तोरें। कबहुँ न मिटिहि अनुग्रह मोरें॥

यह श्रीरामजीने श्रीकौसल्याजीको प्रथमसे ही वरदान दे रक्खा है। फिर बाल० २००के पश्चात्‌के माधुर्यचरित्रमें श्रीरामजीमें प्राकृत बालककी दृष्टि हो गयी—

एक बार जननीं अन्हवाए। करि सिंगार पलनाँ पौढ़ाए॥
निज कुल इष्टदेव भगवाना। पूजा हेतु कीन्ह अस्नाना॥

अर्थात् अपने कुलके इष्टदेव श्रीरंगके पूजनार्थ बालक श्रीरामजीको छुए होनेसे फिरसे स्नान करना कहा गया है। इस प्रकार श्रीरामजीने माताकी अपने प्रति प्राकृत दृष्टि देखकर इनपर अनुग्रह करके इनके अलौकिक विवेकको पुष्ट करनेके लिये अपना विराट्‌रूप दिखाकर अपने पूर्वदत्त अलौकिक विवेकको फिरसे पुष्ट किया है। यह विवेक फिर आजन्म रहा है। अपना विराट् रूप दिखाते हुए इन्हें मायाके वास्तविक रूपका ज्ञान कराया है। यथा—

देखी माया सब बिधि गाढ़ी। अति सभीत जोरें कर ठाढ़ी॥
(मानस, बाल० २०१)

यहाँपर मायाकी करालतापर जीवोंकी ओरसे कोई केस (मुकदमा) किया गया है। अतः वह प्रभुके समक्ष उपस्थित हो अत्यन्त डरी हुई खड़ी है।

सम्भवतः मायाने (प्रभु-प्रेरणासे) श्रीनारदजीमें ब्याहकी लालसा उत्पन्न कर उन्हें तंग किया है। अतः उन्होंने समस्त जीवोंकी ओरसे पैरवी करते हुए यह केस चलाया है कि 'आपके अंशभूत प्रिय पुत्रवत् समस्त जीवोंको इसने अपने फंदेमें डालकर जकड़ रक्खा है, इसपर इसे दण्ड दिया जाना चाहिये।'

इसपर प्रभुके पूछनेपर मायाने कहा है कि इसमें मेरा कुछ दोष नहीं है; क्योंकि जीव जब मेरे हाथमें आते हैं, अर्थात् संसारमें जन्म लेते हैं, तब इन्हें मायाका सम्पर्क होता है; यथा—

भूमि परत भा ढाबर पानी। जनु जीवहि माया लपटानी॥
(मानस, कि० दो० १३)

जीवोंको गर्भवासके नवें मासमें विवेक मिलता है—

तोहिं दियो ग्यान-बिबेक, जनम अनेककी तब सुधि भई।
तेहि ईसकी हौं सरन, जाकी बिषम माया गुनमई॥
(विनयपत्रिका १३६। ४)

'विषम माया; यथा—

तव बिषम माया बस सुरासुर ⋯ ⋯।
भव पंथ भ्रमत अमित दिवस
निसि काल कर्म गुननि भरे॥
(मानस, उ० १२)

इससे छूटना भी कठिन है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥
(गीता ७। १४)

इससे साथ ही 'तेहि ईस की हौं सरन' भी कहा गया है। पर यह विवेक इसे जन्मते समयके कष्टमें भूल जाता है—

सो ग्यान, ध्यान, बिराग, अनुभव जातना पावक दह्यो॥
(विनय-पत्रिका १३६। ५)

तब मायाकी ओरसे इसे तीन बार सावधान किया जाता है—

जनमत पहिले हि छींक भइ, पाछे दीन्हेंसि रोइ।
ताते जगमें जीवकी, कुसल कहाँ ते होइ॥

अर्थात् जन्मकालमें प्रथम बच्चा छींकता है, फिर रोता है और फिर रोनेमें इसकी 'कहाँ'[3]-'कहाँ'—यह ध्वनि भी होती है; इस घटनाको दिखाकर माया अपनी सफाई देती है कि मैं तो आपके अंशभूत प्रिय संतानोंको संसारमें आगे बढ़नेसे रोककर उन्हें आप (अंशी अपने घर) की ओर ही लौटनेका स्पष्ट संकेत करती हूँ कि इस संसार-यात्रामें तुम्हें आगेकी ओर नहीं बढ़ना चाहिये; क्योंकि यात्रामें यदि यात्रीके समक्ष कोई छींक[1] दे, रो[2] दे, अथवा कह (टोक) दे कि 'कहाँ जाते हो' तो ये तीनों अपशकुन आगे बढ़नेसे रोकनेके लिये होते हैं। आगे बढ़नेसे

उस यात्रीकी मृत्यु होती है। यदि ये तीनों अपशकुन एक साथ ही हुए हों, तब तो 'तीन तिकठ महा विकट' अर्थात् महा भयंकर अपशकुन माना जाता है। यह इस जीवको अनन्त कालके लिये चौरासी लाख योनियोंमें भेजनेवाला है। जैसे रेलवे यात्रामें लाल झंडी दिखाकर ड्राइवरको आगे बढ़नेसे रोका जाता है तब वह गाड़ीको रोक देता है। यदि तीन बार लाल झंडी दिखायी गयी और गाड़ी यात्रासे न रोकी गयी तो उसके सभी यात्री उस गाड़ीके उलटनेपर मरते ही हैं। फिर इसमें स्टेशनके केबिनवालोंका दोष नहीं रह जाता, वैसे ही मायाने कहा कि आपके अंशभूत जीवोंको चौरासी-भ्रमणके कष्टोंमें मैं दोषी नहीं हूँ।

तदनन्तर जीवोंके पक्षसे श्रीनारदजीने कहा कि 'जन्मते ही इन जीवोंको ज्ञान भूल गया था तो तुम्हारे इन तीन संकेतोंको कैसे समझते ?'

इसपर फिर मायाने कहा कि 'जीवोंकी बाल-अवस्थाके दोष तो गिने नहीं जाते, वे नाबालिग कहे जाते हैं, पर पंद्रह वर्षकी आयुके पश्चात्से उन्हें सदसद्विवेक होता है; तब बालिग होनेपर तो देखते ही हैं कि सभी जीव जब जन्मते हैं, तब 'छींकते हैं,' 'रोते हैं' और फिर 'कहाँ'-कहाँ' यह ध्वनि करते ही हैं, वैसी मेरी भी परिस्थिति हुई होगी ही। फिर क्यों नहीं समझकर पीछेकी ओर (अपने मूल-स्थान अंशी ईश्वरकी ओर) नहीं लौटते ? अर्थात् उस ईश्वरकी प्राप्तिके उपायरूप काण्डत्रय (कर्म, ज्ञान, उपासना) एवं चरम उपाय उस अंशी ईश्वरकी शरण होकर उसकी प्राप्ति क्यों नहीं करते ?

वरं सयाने होनेपर उसका उल्टा ही करते हैं कि मुझ स्त्री-रूपिणी मायाका कर ग्रहण करनेके लिये स्वयं बारात (गवाही) लेकर राजा (दूल्हा) बनकर सिरपर किरीट (मौर) रखकर बाजे बजा-बजाकर वेद-साक्षीके साथ वेदमन्त्रोंके द्वारा मेरा (मायारूपिणी नारीका) पाणिग्रहण करते हैं, तबसे मैं (नारीरूपमें माया) इनके अधीन (घूँघटसे मुँह ढके हुए) रहती हूँ, जीवन-समाप्तितक अधीन ही रहती हूँ। तब मेरा क्या दोष ? ये ही मुझे वशमें रखते हैं। तब मेरा क्या दोष ?

इसपर माया निर्दोष सिद्ध हो छोड़ दी जाती है। मायाका यह रूप अलौकिक विवेकवाले (परम विरक्त) श्रीनारदजीके प्रति भगवान्ने स्वयं कहा है; यथा—

'काम क्रोध लोभादि मद प्रबल मोह कै धारि।
तिन्ह महँ अति दारुन दुखद मायारूपी नारि॥'
(मानस अरण्य ४३)

इसपर यह भी प्रश्न होता है कि माया ही इतनी अधीनता क्यों स्वीकार करती है ? इसका उत्तर यह है कि माया छल, कपट, दम्भ आदिको भी कहते हैं। माया अपने कपटरूपसे जीवको अपनेमें आसक्त कर इसका पूरा जीवन संसारासक्तिमें लगाकर अन्तमें सदाके लिये अपने अधीन कर चौरासी लाख योनिके भोगमें डाल देती है। तब इसको पूर्णरूपसे जीतकर अन्तमें अपना विजय प्रकट करती है। जैसे कोई पहलवान किसीको पटक (जीत) कर छाती ठोंक-ठोक कर कहता है कि 'मैंने इसे जीत लिया'— वैसे इसके मरनेपर यह मायारूपिणी स्त्री भी घरसे निकलकर मत्था खोलकर छाती पीट-पीटकर अपनी जीत दिखलाती है। कहती है—'हाय ! मोरे राजा' 'हाय मोरे राजा।' इसका अभिप्राय यह कि तुमने राजा (दूल्हा) बनकर किरीट (मौर) माथेपर रखकर बारात (गवाही) साथ लेकर ढोल बजा-बजाकर मेरे घर आ वेद-मन्त्रोंके साथ अग्नि-साक्षीपर मेरा हाथ पकड़ा था और जन्मभर मुझे अधीन रक्खा था। अब मैंने तुम्हें सदाके लिये पराजित कर दिया है, सदा मेरी अधीनतामें रहो। यह अलौकिक दृष्टिका रहस्य है।*

श्रीनारदजी बाल-ब्रह्मचारी अलौकिक विवेकवाले थे, इससे इनके प्रति श्रीरामचरितमानस अरण्य के अन्तमें श्रीरामजीने स्त्रीमें बहुत दोष कहे हैं। अतः यह लेख अलौकिक विवेक दृष्टिवालोंके लिये है।

---

* लौकिक विवेकके आदर्श श्रीवसिष्ठ आदि ब्रह्मर्षि हैं। लौकिक दृष्टिमें स्त्री पुरुषकी धर्म-सहचरी होती है। यह पतिव्रत-धर्मसे परम गति भी पाती है।

पति-मरणपर उसका छाती पीटकर रोना उत्तम है। पति-पत्नीका विवाह मङ्गल है। कन्यादान आदि उत्तम धर्मके अङ्ग हैं' इस लेखसे उनपर कोई आक्षेप नहीं मानना चाहिये।

उपदेश

[महामण्डलेश्वर पूज्यपाद स्वामीजी श्रीमहेश्वरानन्दजी महाराजके प्रवचनसे]

(प्रेषक—श्रीरामजीवनजी चौधरी)

मेरे आजके प्रवचनका विषय है—उपदेश। सबसे बड़ा उपदेश यही है कि इस देवदुर्लभ मानव-जीवनका क्या लक्ष्य है—इसको समझना चाहिये और समझकर उसकी ओर चलना चाहिये एवं चलकर मानव-जीवनको सफल बनाना चाहिये। अपनेको बड़ा बुद्धिमान् समझने, मानने, कहलानेवाले इस बम-बमके जमानेके चक्रमें फँसे हैं और मानव-जीवनके लक्ष्यको भूल रहे हैं। यह बम तो सफाचट कर डालेगा। इस पृथ्वीपर जो कुछ है, उसकी शक्ति बम्-बम्में है। ऋषि-मुनियोंसे वेदादिसे प्रश्न करो कि 'मानव-जीवनका लक्ष्य क्या है ?' जो लक्ष्यको नहीं जानता, उसकी बड़ी अधोगति होती है। आप प्रत्येक कार्यमें लक्ष्यको याद रखते हैं। आप स्टेशन जाते हैं, पैसा निकालते हैं और तुरंत गन्तव्य स्थानकी टिकट माँगते हैं। स्टेशन जानेपर टिकट देनेवाले बाबूने पूछा कि 'कहाँ जाना है ?' यदि आपने कहा कि 'नहीं जानते।' तो आपकी हँसी होगी।

गोस्वामीजीने लिखा है—

देह धरे कर फल यह भाई।
भजिअ राम सब काम बिहाई॥

दुनियाके पदार्थ शाश्वत शान्ति देनेवाले नहीं हैं। मनुष्य शान्ति चाहता है, आनन्द चाहता है—लेकिन काम करता है इसके विपरीत। इस प्रकार मानव मरुस्थलकी मिथ्या झीलके मिथ्या जलको देखकर—उसे सच्चा जल समझकर उस ओर दौड़नेवाले मृगकी भाँति दौड़ रहा है। पर इससे प्यासके दुःखको मिटानेकी उसे जो चाह है, वह कभी पूर्ण नहीं होती; क्योंकि वहाँ जल है ही नहीं और जिधर वास्तविक जल है, उधर वह जाता नहीं।

आप जब अपने-आपको पहचानोगे, तभी आपको सच्ची शान्ति प्राप्त होगी। अनादिकालसे ऋषि-मुनि कहते आये हैं कि 'सच्ची शान्ति आध्यात्मिक ज्ञानसे प्राप्त होगी।' किंतु आजकल भौतिक ज्ञानकी ओर ही सब जा रहे हैं, इससे शाश्वत शान्ति नहीं मिल सकती।

भगवान्‌ने अर्जुनको निमित्त बनाकर कितना सरस उपदेश दिया है—

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥

(गीता ५। २४)

'जो पुरुष आत्मामें ही सुखवाला, आत्मामें ही आराम-वाला है तथा आत्मामें ही ज्ञानवाला है, वह परब्रह्म परमात्माके साथ एकीभाव हुआ सांख्ययोगी शान्त ब्रह्मको प्राप्त होता है।'

वह ज्योति आपके अंदर ही मौजूद है, इसे कहाँ ढूँढ़ते फिर रहे हो ? जीव बाहरके पदार्थोंमें आराम ढूँढ़ता फिर रहा है। आराम तो उसके अंदर है।

'योगी'का अर्थ यह नहीं कि जो पहाड़पर रहकर आँखें मूँदकर तप करे। जिन्हें शान्तिका अनुभव हो, वही योगी है।

केवल खाना-पीना-सोना ही मानव-जीवनका लक्ष्य नहीं है। बादरायण मुनिने कहा है कि 'क्या लुहारके यहाँकी धौंकनी श्वास नहीं लेती, यह शरीर भी तो एक धौंकनी है।'

लक्ष्य-भ्रष्ट मनुष्यको कभी भी पूर्ण शान्तिकी प्राप्ति नहीं हो सकती। वह परमात्मा आपमें समाया है, आप उसमें समाये हुए हैं, सब एक ही धामसे उद्गत हुए हैं और अन्तमें उस एकमें ही विलय होते हैं। इसलिये उस एकको ही हमें जानना चाहिये। बहुत जाननेसे क्या फायदा !

श्रुतिका ज्ञान जबतक विश्वमें नहीं फैलेगा, तबतक स्थायी शान्ति नहीं मिलेगी। श्रुति कहती है—'जिसमें प्राण-इन्द्रियादि ओत-प्रोत हैं, उस परमात्माको जानो, और सब बातोंको छोड़ो।' श्रुति माताका उद्घोष है—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।

अज्ञानरूपी निद्रामें सोनेवाले ! उठो और मानव-जीवन-का क्या लक्ष्य है, उसका बोध करो। वह भगवान् दूर नहीं, सबमें समाया हुआ है।

श्रीमद्भागवतमें श्रीवेदव्यासजीने भगवान्‌के स्वरूपको बताया है कि "जो तमाम भूतात्मा हैं वहीं, 'मैं' हूँ।" ये जितने आलय हैं, सब उसी भगवान्‌के बनाये हुए हैं और बनाकर सबमें वे आप ही प्रविष्ट हैं।

व्यासजीने कहा है—सबको अभेद-दृष्टिसे देखो। जब अभिन्न-दृष्टि हो जायगी तो सबको दान और मान देते चलोगे और यही भगवान्‌की महान् पूजा होगी। किसीको बुरा मत समझो। दानका अर्थ पैसा दे देना ही नहीं है। दान कई प्रकारके होते हैं। मधुर वाणीका दान, वस्त्रहीनको वस्त्र-दान, अन्नहीनको अन्नदान, आश्रयहीनको आश्रयदान और भयभीतको अभयदान—ये सब दान हैं तथा सबको भगवान् समझकर मान देते हुए दान देना चाहिये।

भगवान्‌ने अर्जुनको विश्वरूपमें दर्शन दिया। अर्जुनने दर्शन करके कहा—'हमारा भगवान् सर्वत्र है।' प्रह्लादको उनके पिताने पूछा कि 'जिसको तू भजता है, वह राम कहाँ है?' प्रह्लादने कहा कि 'ऐसे पूछिये कि 'राम कहाँ नहीं हैं?' वह राम आपमें है, हममें है, प्राणीमात्रमें है।'

पिताने पूछा कि 'खंभेमें क्यों नहीं है?' प्रह्लादने कहा—'खंभेमें भी है।' और इसी सत्यको सिद्ध करने भगवान् खंभेसे प्रकट हो गये।

इस बम्-ब्रम्‌के जमानेमें लोग सहानुभूति भूल गये। हमारा क्या होगा, दूसरोंका क्या होगा, यह सोचना भूल गये। श्रुति कहती है, 'सबको अपना ही स्वरूप समझो, अन्य कोई नहीं।' इस प्रकार अपने साथ एवं दूसरोंके साथ सहानुभूति रक्खो। वह सहानुभूति तत्त्वज्ञानके द्वारा प्राप्त हो सकती है। तत्त्व भी तीन साधनोंसे प्राप्त हो सकता है—दम, दया, दान।

प्रजापतिके तीन पुत्र थे—देव, दानव और मानव। ये तीनों प्रजापतिसे उपदेश लेने गये तो उन्होंने तीनोंको उपदेश दिया केवल 'द'। देवताओंको कहा 'द'। देवताओंने विचार किया और समझा हमारे यहाँ भोग बहुत हैं अतएव हमें प्रजापतिने 'दम'का— इन्द्रियनिग्रहका उपदेश दिया है। दम माने 'दमन' जीवनका संयम होना जरूरी है।

वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

(गीता २। ६१)

दानवोंने 'द' से 'दया' का उपदेश लिया।

दया धर्मका मूल है पाप मूल अभिमान।
तुलसी दया न छाँड़िये जब लग घटमें प्रान ॥

दयाके द्वारा हमारे अंदर जो अनेक दुर्गुण हैं, उनका विनाश हो जाता है।

मानवने 'द'के द्वारा दानका उपदेश ग्रहण किया। ब्राह्मण ज्ञानका दान दें, क्षत्रिय बलका दान दें, वैश्य धनका दान दें और शूद्र सेवाका दान दें। चारों अङ्गोंमें समाजका समान प्रेम है। जो ऊँचा-नीचा कहा जाता है यह तो भ्रामक प्रचार है। वैदिक धर्म ऐसा नहीं है। यह संकुचित नहीं, उदार धर्म है। सबमें अभेद बताया गया है। अब इस ज्ञानके द्वारा मानव-जीवनके लक्ष्यको समझना चाहिये।

वैरसे भयानक दुर्गति

यदि कोई तुम्हारी बुराई करे तथा तुमसे वैर रक्खे तो उसको भूला हुआ मानो; क्योंकि तुम्हारी बुराई तो तुम्हारे प्रारब्धके बिना हो नहीं सकती; वह अपनी ही बुराई कर रहा है। अतः दयाका पात्र है। उसको क्षमा करो तथा भगवान्‌से प्रार्थना करो कि वे उसकी बुद्धिको सुधार दें। तुम अपने मनमें कभी वैर मत रक्खो; क्योंकि वैर सदा जलता रहता है, मरनेके बाद नरकोंमें डालता है और वैररूप बनाकर उत्तरोत्तर अधोगतिमें ले जाता है।

एक घटना है—एक भले आदमीने एक छूरा खरीदा था, जिसके हाथमें लेते ही मनमें हिंसाके भाव जाग उठते थे। पर वे संयमी पुरुष अपनेको रोके रखते थे। एक दिन वे छूरा हाथमें लिये 'ऐसा क्यों होता है'—इस विचारमें बैठे थे कि मनमें बड़ा उद्वेग हुआ और एक क्रोधमें भरा हुआ पठान सूक्ष्म रूपमें दिखायी पड़ा। वह उनके शरीरमें धँसना चाहता था पर उनकी सात्त्विक वृत्तिके कारण धँस पाता नहीं था। पता लगा कि उस पठानकी स्त्रीका किसी अन्य पुरुषसे अवैध सम्बन्ध था और पठानने इसी छूरेसे उन दोनोंको मार दिया था। फिर तो वह स्त्री-जातिका वैरी बन गया, एवं दो स्त्रियोंकी और हत्या करके स्वयं मारा गया। तबसे वह इस छूरेके साथ सूक्ष्म रूपसे रहने लगा और जिसके हाथमें छूरा गया, उसीके द्वारा स्त्रियोंका वध कराने लगा। इस बातका पता लगनेपर उस भले आदमीने उस छूरेको चूर-चूर करके जमीनमें गाड़ दिया। इस घटनासे पता लगता है कि वैर मनुष्यकी किस प्रकार परलोकमें भी भयानक दुर्गति कराता है।

गाँधी-जीवन-सूत्र

[प्रार्थना आत्माके लिये अनिवार्य]

(लेखक—श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

'शुरूमें मेरा ईश्वर और प्रार्थनापर विश्वास नहीं था और जीवनमें अनेक बरसोंतक मुझे ऐसा महसूस नहीं हुआ कि किसी चीजकी कमी है। लेकिन एक समय ऐसा अनुभव हुआ कि जैसे शरीरके लिये अन्न अनिवार्य है, वैसे ही आत्माके लिये प्रार्थना अनिवार्य है। असलमें शरीरके लिये अन्न इतना जरूरी नहीं है, जितनी आत्माके लिये प्रार्थना; क्योंकि शरीरको स्वस्थ रखनेके लिये निराहार रहना अकसर जरूरी होता है, परंतु प्रार्थनाका उपवास तो हो ही नहीं सकता। प्रार्थनामें सम्भवतः कमी अति हो ही नहीं सकती।'

गाँधीका जीवन-सूत्र था—प्रार्थना।

गाँधी भूखा रह लेता, उपवास कर लेता, पर प्रार्थनामें नागा करना उसने सीखा ही नहीं था।

प्रार्थना उसके जीवनका सम्बल थी, पाथेय थी।

गाँधीका सारा जीवन प्रार्थनामय था। कहता था वह—

'मैं विद्वान् पुरुष नहीं हूँ, परंतु मैं प्रार्थना-परायण मनुष्य होनेका नम्रतापूर्वक दावा करता हूँ।'

× × ×

जीवन जबतक मौज-मस्तीसे कटता है, तबतक मनुष्यको लगता है कि खाना-पीना, मौज उड़ाना ही जीवनका एकमात्र लक्ष्य है। चार्वाकके अनुसार—

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥

'खाओ, पियो, मौज करो, कर्ज लेकर भी मालमलीदा उड़ाओ, घी पियो। देह तो जल-भुनकर यहीं समाप्त हो जायगा। फिर कौन आता-जाता है कर्ज चुकानेके लिये।' नास्तिकोंकी यह विचारधारा जबतक मनुष्यपर हावी रहती है, तबतक वह अपने जीवनका एकमात्र लक्ष्य मानता है—'भोगोंकी प्राप्ति'।

परंतु भोगोंसे किसीकी तृप्ति हुई है कभी? एक भोग समाप्त नहीं होता, एक अभाव मिटता नहीं कि अनेक अभाव सामने आ खड़े होते हैं। मनुष्य असंतोषकी ज्वालामें जलने लगता है। अशान्ति उसे त्रस्त करने लगती है।

जीवन जब है तो केवल सुख ही मिलेगा, इसका तो ठिकाना है नहीं। सुख और दुःख एक ही सिक्केके दो बाजू हैं। सुख जाता है तो दुःख आता है। दुःख जाता है तो सुख आता है। भले ही कोई किसी राजाके महलमें पैदा हो, किसी लखपतीके आँगनमें जन्म ले, सोनेके चम्मचसे दूध पिये, पर सुख-दुःख दोनोंकी चपेटें उसे सहनी ही पड़ेंगी। किसीको केवल सुख ही सुख मिले और किसीको केवल दुःख ही दुःख मिले—यह न तो आजतक कभी सम्भव हुआ है और न आगे ही कभी सम्भव हो सकेगा। सुख-दुःखके प्रकार बदल सकते हैं, स्वरूप बदल सकते हैं, पर सुख-दुःखका अस्तित्व ही मिट जाय, ऐसा हो नहीं सकता।

यदि ऐसा सम्भव हुआ होता तो पैसेवाले, राजा-रईस, पूँजीपति और साधन-सम्पन्न पुरुष भला कभी दुखी रहते? पर हम देखते हैं, सदासे देखते हैं कि दुःखोंकी चपेटसे न कोई राजा बचता है, न कोई रईस। कभी रोग—बीमारीका दुःख है, कभी खाने-पहननेका। कभी दैहिक ताप सताता है, कभी दैविक ताप जलाता है और कभी भौतिक ताप उद्विग्न करता है। तभी तो कबीरने गाया था—

या जग सुखिया कोई न देखा जो देखा सो दुखिया हो।
राजा परजा रंक धनी नर अधमाधम या मुखिया हो॥

घाटि बाढ़ि है सब जग दुखिया, क्या गिरही क्या त्यागी हो,
सुखिया या जग नहीं कुटुंबी, सुखिया नहिं बैरागी हो।

दुःखोंकी चपेटमें सारा संसार त्रस्त है। कोई भी क्यों न हो, दुःख और अभाव, आशा और तृष्णाके थपेड़े हर व्यक्तिको सताते हैं।

जब मनुष्य इन थपेड़ोंसे व्याकुल होता है, उसके सुखी जीवनमें दुःखकी बिजली कौंधने लगती है, सम्पन्नता और विलासकी गोदीमें किलोलें करते हुए भी अभावोंकी ज्वाला जलाने लगती है, तब कहीं उसकी आँखें खुलती हैं। तब वह सोचने लगता है और गहराईसे सोचने लगता है कि इस मृग-तृष्णासे छुटकारेका भी कोई साधन है क्या?

'होशमें आता है इंसां ठोकरें खानेके बाद।'

मनुष्य जब चारों ओरसे निराश होता है, तब उसका झुकाव होता है—प्रभु-चरणारविन्दोंकी ओर। जिसका कोई सहारा नहीं होता, उसका सहारा होता है—परम प्रभु परमेश्वर। परमात्माकी गोदमें जब मनुष्यको स्थान मिलता है तब दैविक, दैहिक, भौतिक सभी ताप दूर हो जाते हैं और मनुष्य शान्तिके अद्भुत सागरमें निमज्जन करने लगता है। प्रार्थना इसका अचूक साधन है।

गाँधी कहता था—

'प्रार्थनाने मेरे जीवनकी रक्षा की है। उसके बिना मैं कभीका पागल हो जाता। मेरी आत्मकथा आपको बतायेगी कि मुझे भी कटु-से-कटु सार्वजनिक और व्यक्तिगत अनुभवोंका काफी हिस्सा मिला है। उनसे मैं थोड़ी देरके लिये निराशामें डूब गया। परंतु मुझे छुटकारा मिला तो प्रार्थनाके कारण ही मिला।

'जिस अर्थमें सत्य मेरे जीवनका अङ्ग रहा है, उस अर्थमें प्रार्थना मेरे जीवनका अङ्ग नहीं रही है। वह तो केवल आवश्यकतावश आयी; क्योंकि मैं ऐसी स्थितिमें पड़ गया, जब प्रार्थनाके बिना सुखी नहीं हो सकता था। ईश्वरमें ज्यों-ज्यों मेरी श्रद्धा बढ़ती गयी, त्यों-त्यों प्रार्थनाकी लगन अदम्य होती गयी। उसके बिना जीवन मुझे निस्तेज और सूना प्रतीत होता था।

'राजनीतिक क्षितिजपर मेरे सामने निराशा छायी रहनेपर भी मैंने कभी अपनी शान्ति नहीं खोयी। सच तो यह है कि मेरी शान्तिसे ईर्ष्या करनेवाले लोग मैंने देखे हैं। मैं कहता हूँ कि यह शान्ति प्रार्थनासे आयी है।'

× × ×

गज और ग्राहका संघर्ष भागवतका बड़ा ही मर्मस्पर्शी प्रसंग है। 'निर्बलके बल राम'में भक्त सूरदासने उसकी चर्चा करते हुए कहा है—

जब लगि गज अपनो बल बरत्यो
नेकु सर्‌यो नहिं काम।
निर्बल ह्वै बल राम पुकार्‌यो
आये आधे नाम॥

गाँधी इसकी व्याख्या करते हुए कहता है—

'गज जब अपनी पूरी शक्ति लगा चुकता है और गहरा ही धँसता जाता है, तब वह महसूस करता है कि अब तो उसकी अपनी सामर्थ्य समाप्त हो चुकी है। अब यदि कोई बचा सकता है तो प्रभु ही। वह प्रभुकी कृपापर अपने आपको छोड़ देता है। बस, पलक मारते ही द्वारिकानाथ उसकी मददको दौड़े आते हैं और उसकी रक्षा हो जाती है।'

इस कथाका सार यही है कि भगवान् संकटके अवसरपर अपने भक्तकी रक्षा करता ही है। ऐसा कभी नहीं होता कि भक्तने उसे पुकारा हो और वह न आया हो। शर्त इतनी ही है कि भक्तको भगवान्‌में जीवित श्रद्धा होनी चाहिये और उसपर पूर्ण विश्वास होना चाहिये। इस श्रद्धाकी कसौटी यही है कि हमें अपने कर्तव्यका पालन करनेके उपरान्त प्रभु जो भी दें, फिर वह सुख हो या दुःख, सौभाग्य हो या दुर्भाग्य—उसका हम प्रसन्नमनसे स्वागत करें।

राजी हैं हम उसीमें जिसमें तेरी रजा है,
यां यों भी वाहवा है औ वों भी वाहवा है॥

मालिककी मर्जीको अपनी मर्जी बना लेना शान्तिको और प्रसन्नता पानेका उत्तम साधन है। प्रार्थनासे, प्रभुकी इच्छापर अपनेको सर्वथा छोड़ देनेसे मनुष्य इस स्थितिको प्राप्त कर सकता है, करता है।

हमारे दुःख और असंतोषका बहुत बड़ा कारण यही है कि हम मालिककी मर्जीको अपनी मर्जी बनानेके बजाय अपनी ही मर्जी मालिकपर लादना चाहते हैं। हमारी मर्जीके अनुसार होता है तब तो हम खुश होते हैं, हमारी मर्जीके खिलाफ होता है तो हम रोते हैं।

बच्चे मिट्टीमें, बालूमें खेलते हैं। उसमें वे अपने-अपने घरौंदे बनाते हैं। कन्हाई भी खेल रहा है उनके साथ-साथ और वह तो ठहरा नटखटशिरोमणि। चाहता है उसके घरौंदे बिगाड़ देता है, चाहता है उसके घरौंदे बना देता है। पर जो मस्त है, वह हर हालतमें खुश रहता है। उसका घरौंदा बिगड़ता है तो भी वह आनन्दविभोर होकर, मग्न होकर गाता है—

मेरे घरौंदे बिगाड़ दिये रे,
मेरे नन्हे कन्हाईने पैरोंसे।

उसे न बिगड़नेका गम है, न बननेका हर्ष। उसे तो कन्हाईकी मर्जीपर चलना है। प्रभुके इशारेपर उसे नाचन-

है। हम यदि अपनी विचारधारा इस प्रकारकी बना लें, फिर तो शान्ति ही शान्ति है, सुख ही सुख है, आनन्द ही आनन्द है।

× × ×

यह प्रार्थना है क्या ? प्रार्थना की कैसे जाती है ? प्रार्थना-की पद्धति क्या है ? प्रार्थना कब की जाती है ?—ऐसे अनेक प्रश्न हमारे मानसमें उठते हैं।

प्रार्थना है—आत्माकी आकुल पुकार।
प्रार्थना की जाती है—हृदयसे।
प्रार्थनाकी कोई विशिष्ट पद्धति नहीं।

प्रार्थनाका कोई निश्चित अवसर नहीं। आठ पहर चौंसठ घड़ी की जा सकती है। हर समय है प्रार्थनाका।

गाँधी कहता था—'अर्थहीन स्तोत्र-पाठ प्रार्थना नहीं है, न शरीरको भूखों मारना उपवास है। प्रार्थना तो उसी हृदयसे निकलती है, जिसे ईश्वरका श्रद्धापूर्वक ज्ञान है और उपवासका अर्थ है—बुरे या हानिकारक विचार, कर्म या आहार-से परहेज रखना। मन तो नाना प्रकारके व्यञ्जनोंकी ओर दौड़ रहा है और शरीरको भूखों मारा जा रहा है, तो ऐसा उपवास तो निरर्थक व्रत-उपवाससे भी बुरा है।'

'प्रार्थना आत्माकी आकुलताकी द्योतिका है। प्रार्थना पश्चात्तापका चिह्न है। प्रार्थना हमारे अधिक अच्छे, अधिक शुद्ध होनेकी आतुरताको सूचित करती है।'

'प्रार्थना या भजन जीभसे नहीं, हृदयसे होता है। इसी-से गूँगे, तुतले, मूढ़ भी प्रार्थना कर सकते हैं। जीभपर अमृत हो और हृदयमें हालाहल हो तो जीभका अमृत किस कामका ? कागजके गुलाबसे सुगन्ध कैसे निकल सकती है ?'

× × ×

गाँधीने प्रार्थनाकी तुलना पत्रसे की है। कहता है वह—

'किसी मनुष्यको हम पत्र लिखते हैं। उसका वह पत्र भी आखिर क्या है ? कागजका एक टुकड़ा मात्र न ? ईश्वरको पत्र लिखनेके लिये न कागज ही चाहिये, न कलम-दावात ही और न शब्द ही। पर ईश्वरको जो पत्र लिखा जाता है, उसका उत्तर न मिले, यह सम्भव ही नहीं। उस पत्रका नाम पत्र नहीं—प्रार्थना है, पूजा है।

'मन्दिरमें जाकर ऐसे पत्र करोड़ों लोग प्रतिदिन लिखते हैं और उन्हें श्रद्धा है कि उनके पत्रका उत्तर भगवान्ने दे ही दिया है। यह निरपवाद सिद्धान्त है, भले ही भक्त उसका कोई बाह्य प्रमाण न दे सके। उसकी श्रद्धा ही उसका प्रमाण है। उत्तर प्रार्थनामें सदासे ही निहित रहा है, भगवान्की ऐसी प्रतिज्ञा है।'

× × ×

ईश्वरके प्रेमी तो रात-दिन प्रार्थनामें डूबे रहते हैं। प्रभुके नामकी रट लगाये रहते हैं। उनका तो रोम-रोम पुकारता रहता है—

खत लिखेंगे गरचे मतलब कुछ न हो,
हम तो आशिक हैं तुम्हारे नामके।

उनकी दशा तो भरत-जैसी रहती है। रामके विरहमें उनकी जो हालत हो गयी थी, उसका वर्णन करते हुए तुलसीदासने कहा है—

पुलक गात हिय सिय रघुबीरू।
जीह नाम जप लोचन नीरू॥

शरीर गद्‌गद है—पुलकायमान है। हृदयमें सीता-राम विराजमान हैं। मुखसे राम-रामकी ध्वनि निकल रही है। आँखोंसे अश्रुधारा प्रवाहित हो रही है।

कैसी अद्‌भुत प्रार्थना है!

हर कोई ऐसी प्रार्थना कर सकता है। जरूर कर सकता है।

गाँधी कहता था—'कई नौजवान उसपर ऐतराज करते हैं कि मुँहसे रामनाम बोलनेसे क्या लाभ, जब कि हृदयमें जबर्दस्ती राम-नामकी धुन जाग्रत् की ही नहीं जा सकती। लेकिन जिस तरह गायन-विद्या-विशारद सुरोंके न मिलनेतक बराबर तार कसता रहता है और ऐसा करते हुए जैसे उसे अकस्मात् सही स्वर मिल जाता है, उसी तरह हम भी भावपूर्ण हृदयसे रामनामका उच्चारण करते रहें तो किसी-न-किसी समय अकस्मात् ही हृदयके छुपे हुए तार एकतान हो जायँगे। यह अनुभव मेरे अकेलेका नहीं है, कई दूसरोंका भी है। मैं खुद इस बातका साक्षी हूँ कि कई एक नटखट लड़कोंका तूफानी स्वभाव निरन्तर रामनामके उच्चारणसे दूर हो गया और वे रामभक्त बन गये हैं। लेकिन, इसकी एक शर्त है। मुँहसे राम-नाम बोलते समय वाणीको हृदयका सहयोग मिलना चाहिये; क्योंकि भावनाशून्य शब्द ईश्वरके दरबारतक नहीं पहुँचते।'

× × ×

सवाल है सचाईका, हार्दिकताका ।

कहते क्यों हो कि भगवान आते नहीं ।
सच्चे दिलसे उन्हें तुम बुलाते नहीं ॥

हृदयसे पुकार की जाय तो यह कैसे सम्भव है कि चींटीकी भी पुकार सुननेवाले घटघटवासी प्रभु न आयें ।

एक जिज्ञासुने गुरुसे पूछा—'गुरुजी ! भगवान्‌को कैसे पुकारें ?'

गुरुने एक चेलेको इशारा किया, कुछ समझाया और उसे भेज दिया स्नान करने । कहा—'नहा करके आओ तो बताऊँगा ।'

चेला उसे नहलाने लिवा गया । जैसे ही जिज्ञासुने पानीमें गोता लगाया, चेलेने उसे ऊपरसे दबा दिया । दो-तीन बार ऐसा किया ।

नहाकर लौटा तो गुरुने पूछा—'क्यों बेटा ! इसने जब तुम्हें पानीमें थोड़ी देर दबा रक्खा तो तुम्हारे मनमें क्या भावना उठ रही थी ?'

जिज्ञासु बोला—'महाराज ! उस समय मेरा जी बुरी तरह छटपटा रहा था कि कैसे पानीसे बाहर निकलूँ । बिना निकले अब प्राण गये, अब प्राण गये—ऐसा लग रहा था ।'

गुरुने बताया—'बेटा ! इसी तरह व्याकुलतासे भगवान्‌को पुकारना चाहिये । यह छटपटाहट ही प्रार्थना है, उपासना है, पूजा है ।'

हम भी प्रार्थना करते हैं, आप भी ।

पर क्या हमारे हृदयमें प्रभुके लिये ऐसी छटपटाहट होती है कभी ? कभी हमारा जी इतनी बुरी तरह कचोटता है कि उनसे मिले बिना हमारे प्राण ही निकले जा रहे हैं ?

अनेक बरसों पहले काशीके दशाश्वमेधघाटपर मैंने एक बंगाली युवकको देखा था इसी तरह छटपटाते हुए । वह बिलख-बिलखकर चिल्ला रहा था—

आमि वृन्दावने जावो !
आमि वृन्दावने जावो !!

'मैं वृन्दावन जाऊँगा । मैं वृन्दावन जाऊँगा ।' घरवाले उसे चारों ओरसे पकड़े थे । पर उसकी एक ही पुकार थी, एक ही माँग थी, एक ही छटपटाहट थी—

'आमि वृन्दावने जावो ।'

हमारे हृदयमें कभी ऐसी आकुलता हुई है या होती है क्या ? इसीका नाम है—प्रार्थना ।

× × ×

और प्रार्थनाकी पद्धति ?

उसकी कोई विशिष्ट पद्धति नहीं ।

'तुलसी' अपने रामको रीझि भजो चाहे खीझ ।
खेत परै पै जामिहैं उलटा सीधे बीज ॥

वेदका अमुक मन्त्र, कुरानकी अमुक आयत, बाइबिलका अमुक पैरा, गाथाका अमुक पद, गुरुग्रंथका अमुक अंश पढ़ना ही प्रार्थना नहीं । गायत्री अथवा रामनाम, प्रणव (ओंकार) मन्त्र अथवा गुरुमन्त्रतक ही प्रार्थना सीमित नहीं है । विधि-निषेध भी काम करते हैं । पर विधि-निषेध ही सब कुछ नहीं हैं ।

न हो कोई विशिष्ट पद्धति, न हो कोई विशिष्ट मन्त्र, फिर भी प्रार्थना की जा सकती है ।

उसके लिये केवल एक चीज चाहिये और वह है तन्मयता, एकाग्रता और लगन ।

ठीक ही कहा गया है—

काली बल कृष्ण बल
किछु तेइ क्षति नाइ ।
चित्त परिष्कार रेखे
एक मने डाका चाइ ॥

चाहे कालीका नाम लो, चाहे कृष्णका, रामको पुकारो, चाहे श्यामको; प्रभुका जो नाम तुम्हें प्यारा हो, वही नाम लो, इसमें कोई हर्ज नहीं । केवल जरूरत है—चित्तको शुद्ध करनेकी और एकाग्र मनसे पुकारनेकी ।

और चित्त कैसे शुद्ध होता है ?

उसका भी वही एक साधन है—प्रार्थना ।

प्रार्थना करो, एकाग्र चित्तसे करो । चित्त शुद्ध होगा ही ।

कबीरने तभी तो कहा था—

अवगुन मोरे बकसिये अहो गरीबनिवाज ।
जो हौं पूत कपूत हौं, तऊ पिता को लाज ॥

भला हूँ, बुरा हूँ, गन्दा हूँ, मैला हूँ—हूँ तो तुम्हारा ही । मेरी लाज तो तुम्हें ही ढोनी है ।

हमें तो सब कुछ प्रभुपर ही छोड़ देना है । उनसे यही प्रार्थना करनी है—

रघुवर तुमको मेरी लाज।
सदा सदा मैं सरन तिहारी, तुमहि गरीब निवाज॥
पतित उधारन बिरुद तिहारो श्रवनन सुनी अवाज।
हौं तो पतित पुरातन कहियै, पार उतारो जहाज॥
अघ खंडन दुख भंजन जनके यही तिहारो काज।
तुलसिदासपर किरपा करियै भगति दान देहु आज॥

गाँधीकी प्रार्थनाकी यही पद्धति थी।
हम भी इसे अपना सकते हैं, आप भी।

और जब इस प्रकार प्रार्थना हमारा जीवन-सूत्र बन जायगी तो कहाँ रहेगा दुःख, कहाँ रहेगा शोक, कहाँ रहेगा क्लेश और कहाँ रहेगी चिन्ता?

आनन्द-ही-आनन्द सर्वत्र बिखरा रहेगा—आठ पहर चौंसठ घड़ी। प्रार्थनाका तार बँधा नहीं कि बेड़ा पार है।

जज़्बए इश्क सलामत है तो इंशा अल्लाह।
कच्चे धागे में चले आयँगे सरकार बँधे॥

चमक

(लेखक—डॉ० श्रीमुंशीरामजी शर्मा, 'सोम')

चमक धनमें है, बलमें है, यशमें है और ज्ञानमें है। धनकी चमक साधारण जनको मोहित करती है। धनी स्वयं बलवान् न हो, पर वह धनके बलपर बलवानोंको अपना चाकर बना सकता है। दान देनेसे उसका यश भी फैलता है और बड़े-बड़े ज्ञानी भी आवश्यकता पड़नेपर धनीके आगे याचकरूपमें हाथ फैलाते हैं।

धन सबको अपने वशमें कर सकता है, पर यदि बलको धनके कारण अपमानका अनुभव होने लगे तो वह धनको कुचल भी सकता है। अतः यश बलके भी ऊपर पहुँच जाता है। यशकी कामना ही बलको धनके अपमानसे हटाकर ऊर्ध्वगति प्रदान करती है। यश भी ज्ञानके आगे सिर झुका देता है। बड़े-बड़े यशस्वी महानुभाव निःस्पृह, कन्द-मूल-फलाश्रयी आत्मज्ञानियोंके सामने विनीत भावसे कुछ जाननेके लिये खड़े हो जाते हैं।

सोमनाथ-मन्दिरका धन महमूद गजनवीके बलके आगे स्थिर न रह सका। ऊँटों और खच्चरोंपर लदकर वह कहीं-से-कहीं पहुँच गया। सिकन्दरका बल और यश—दोनों ही सिंधु-तटवर्ती, आरण्यक दण्डी स्वामीके समक्ष हतप्रभ हो रहे थे। शक्ति-मदमत्त क्षत्रिय किसी कविके भावमय छन्दको सुनते ही झूम जाते हैं। नरहरि और भूषणकी पालकियोंको कंधा लगानेवाले यशस्वी सम्राट् तथा बलशाली क्षत्रिय ही थे।

कविको धन मिलता है, पर वह उसे लुटाना भी जानता है। धनपर वह आसक्त नहीं होता। भोजसे मिले हुए धनको माघने घर पहुँचते-पहुँचते याचकोंको दानमें दे दिया। रीवाँनरेशसे मिले हुए धनको महाकवि हरिनाथने केवल एक दोहा सुनते ही नागपुत्रके हाथोंमें रख दिया। नवीन असनीका निर्माण, जिसे काष्ठजिह्वदेव-स्वामीने काशिकाके समान कहा है, उन्हींके द्वारा हुआ और अनेक पंक्तिपावन ब्राह्मणोंको वहाँ निवास मिला। इस रूपमें भाव बल और ज्ञानके भी ऊपर स्थान पाता है। यह भाव ही तो था जिसने महाराणा-प्रतापको गिरिचर, तृणचर और वनचर बनकर भी अकबरका अनुचर न बनने दिया। यह भाव ही तो था जिसने वाचस्पति मिश्रकी एक रचनाको 'भामती' नामसे प्रसिद्धि प्रदान की और यह भाव ही था जिसने अप्रतिम तार्किक आचार्य शंकरको परिव्राजककी स्थितिमें भी माँके अन्त्येष्टि-संस्कारके लिये बाध्य एवं संनद्ध कर दिया।

ये सब चमक रहे हैं। धन, बल, ज्ञान और भाव—सभीकी दीप्ति इतिहासमें दमदमा रही है। वेद इस चमकनेवालेको 'द्युमान्' कहता है। धनमें चमक है, पर धनीमें तब चमक आती है, जब वह धनका सदुपयोग सोमके सवन, यज्ञ, दान तथा सार्वजनिक हितकी साधना करनेवाले कूप, उद्यान, तड़ाग आदिके निर्माणमें करता है। बलमें द्युति है, पर बलवान्की द्युतिका प्रकाश शत्रुसैन्यके मर्दन, रणमें जूझने तथा अनाथ-असहायके त्राणमें होता है। क्षत्र या क्षत्रिय नाम ही क्षत या घावसे त्राण देने-वालेको दिया गया है। ज्ञानमें चमक है, पर ज्ञानी चमकता तभी है, जब वह ज्ञानका दान देता है, वैयक्तिक, सामाजिक तथा विश्वजनीन गुत्थियोंको सुलझाता है और

मानवताके संवर्धनमें योग देता है। भाव इन सबके साथ लगा है। वही प्रेरक है। बिना भावके न तो धनीके हाथ दान देनेके लिये बढ़ते हैं, न क्षत्रिय दीन-जन-त्राणके लिये उद्यत होता है और न ज्ञानी ज्ञान-प्रसारमें सहयोग देता है। भाव प्रत्येक सवन या यजनके मूलमें विद्यमान रहता है। भावकी अधिष्ठात्री, कवियोंकी वरदायनी जननी सरस्वतीको वेद इसीलिये 'यज्ञं दधे सरस्वती' कहते हैं।

नीचे लिखे मन्त्रपर विचार कीजिये—

यो अस्मै घ्रंस उत वा य ऊधनि सोमं सुनोति भवति द्युमाँ अह ।
अपाप शक्रस्ततनुष्टिमूहति तनूशुभ्रं मघवा यः कवासखः ॥

(ऋ० ५। ३४। ३)

"जो व्यक्ति सूर्यके प्रकाशमें अथवा विश्रामामृत पिलानेवाली रात्रिके समयमें सोमका सवन करता है, त्यागप्रधान यजनके कार्यमें जुटता है, वह 'द्युमान्' बनता है—निश्चित रूपसे चमकने लगता है—उसका यश चतुर्दिक् फैल जाता है; पर जो व्यक्ति 'ततनुष्टि, स्वार्थ-विस्तारवादी है, अपने 'अहं'का ही त्याग-भावके बिना फैलाव चाहता और तदनुकूल कुत्सित कर्मोंमें संलग्न रहता है, जो अपने शरीरकी सजावटमें ही लगा है तथा गर्हित व्यक्तियोंको अपने सखारूपमें साथ रखता है, उसे सर्वसमर्थ प्रभु नीचे-से-नीचे ले जाते हैं; मानवयोनिसे हटाकर अधम कीटादि योनियोंमें डाल देते हैं।"

यदि धनी दानरूप यजन-कर्मको सजानेमें ही लगा रहता है, विलास-प्रिय बनता है, तो मानवताके लिये वह अभिशाप सिद्ध होता है। ऐसा व्यक्ति अपने जीवनकालमें ही सामाजिकोंकी आँखोंमें गिर जाता है और मरनेके बाद कर्मविपाक उसे नीची योनियोंमें पटक देता है। यदि बलवान् व्यक्ति सत्का साथी न रहकर कुत्साका साथ देता है, अपने बलसे नीचोंको बढ़ाता है, अनीतिको आश्रय प्रदान करता है, अत्याचार फैलाता है, घायलोंके घाव न भरकर आततायियोंके हाथ बिक जाता है, तो वह भी यजनसे दूर, नारकी-जीवन प्राप्त करता है। शासकोंका शासक परम देव ऐसे स्वार्थी, अहं-पोषक, शरीर-सज्जामग्न, कुसंगति करनेवाले पुरुषोंको मिटा देता है। सत्का तिरस्कार करनेवाले असत्में, अन्धकारमें, मृत्युके गालमें अपने आप गिरते हैं। ऋत और सत्यकी व्यवस्था उन्हें उनके योग्य स्थानमें ले जाती है।

स्वार्थके स्थानपर त्याग करनेवाले, यज्ञोंमें भाग लेनेवाले पुरुष द्युमान् बनते हैं, दिव्यताकी ओर प्रयाण करते हैं, उत्तम योनियोंमें जाते हैं—

एह्येहीति तमाहुतयः सुवर्चसः
सूर्यस्य रश्मिभिर्यजमानं वहन्ति ।
प्रियां वाचमभिवदन्त्योऽर्चयन्त्य
एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः ॥

(मुण्डक० १। २। ६)

"यज्ञमें डाली हुई शोभन, वर्चस्विनी आहुतियाँ मीठी वाणीसे याजकका अभिनन्दन तथा अर्चन करती हुई उसे बुलाती हैं और सूर्यकी रश्मियोंके रमणीय रथमें बिठाकर कहती हैं—'आओ-आओ, यह है तुम्हारे लिये पुण्यधाम ब्रह्मलोक! यहाँ आनन्दपूर्वक निवास करो'।"

यज्ञको हम उसके संकुचित द्रव्यमय रूपमें ही ग्रहण न करें। यज्ञके व्यापक अर्थोंपर विचार करें। प्रत्येक ऐसा कर्म जो पूजा, संगतिकरण और दानका भाव लिये है, यज्ञ कहलाता है। तप यज्ञ है, श्रद्धाकी भावना यज्ञ है, भिक्षापर जीवन व्यतीत करते हुए, विषयोंसे विरक्त होकर शान्त-जीवन-यापन यज्ञ है। ब्राह्मण इसी प्रकारके यज्ञ करता है। वह इन्द्रिय-कुण्डोंमें विषयोंकी आहुति नहीं डालता, निर्वेद तथा शमसे उन्हें तृप्त करता है। ऋषि ऐसे तपस्वी साधकोंके सम्बन्धमें कहता है—

तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्यां चरन्तः।
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ॥

(मुण्डक० १। २। ११)

'ग्रामों एवं नगरोंकी विलास-रम्यतासे दूर अरमणीय अरण्यमें भिक्षाका अवलम्बन लेकर जो विद्वान् शान्तभावसे तप और श्रद्धाका जीवन व्यतीत करते हैं, वे रजोगुणसे शून्य होकर सूर्यद्वारसे ऐसे लोकमें पहुँचते हैं, जहाँ वह अमृत, अव्यय परम पुरुष है।'

यजनशील साधक चमकते हैं, पर कुछ ऐसे भी साधक हैं, जो उनसे अधिक चमकते हैं। धन-द्रव्यसे यज्ञ करनेवाले द्युतिमान् बनते हैं। पर जिन्होंने परायी रक्षामें अपने प्राणोंको ही होम दिया, वे क्षत्रिय तथा जिन्होंने समस्त वासना-जालको ही दग्ध कर दिया और ज्ञानामृत पीकर तप एवं

श्रद्धाका शान्त जीवन व्यतीत किया, वे ब्राह्मण 'द्युमत्तर' बनते हैं—और भी अधिक चमकते हैं।

अब रह जाती है चमककी सर्वोच्च अवस्था—जिसमें निवास करनेवाला 'द्युमत्तम' कहलाता है। यह अवस्था परम पुरुष परमात्माकी है। पुरुष वे भी हैं, जो द्युमान् या द्युमत्तर हैं, पर वे संकुचित पुरीके निवासी हैं और आवागमनके चक्रमें पड़े रहते हैं। परमपुरुष ब्रह्माण्डभरमें व्यापक है और उसे भी अतिक्रान्त करके स्थित है। 'द्युमत्तम' संज्ञासे वही विभूषित होता है। वही समस्त चमकका स्रोत है, प्रकाशोंका प्रकाश है। भौतिक एवं आध्यात्मिक—दोनों प्रकारके प्रकाश उसीसे निकलते हैं। वह मूल है, ये शाखाएँ हैं।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥
(मुण्डक० २। २। १०)

'यह भौतिक सूर्य, चन्द्र-तारे उस परम पुरुषके तेजके सामने चमक नहीं पाते, न ये विद्युत् ही चमक पाती हैं—फिर यह अग्नि भला वहाँ कैसे चमक सकती है? सब चमकवाले उसीकी चमकसे चमकते हैं और ये सब उसके पीछे प्रकाशित होते हैं।' सब ज्योतियोंकी वही एकमात्र ज्योति है। प्रकाशोंका वही एकमात्र प्रकाशक है।

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद् भासस्तस्य महात्मनः ॥
(गीता ११। १२)

'यदि आकाशमें सहस्रों सूर्य एक साथ उदय होने लगें, उनका प्रकाश उस महापुरुष, परमपुरुष, परमात्माके प्रकाशकी कुछ-कुछ समता कर सकेगा।'

हाँ, तो द्युमत्तम वही परम अव्यय पुरुष है। श्रुति भगवती कहती है—

शचीव इन्द्र पुरुकृद् द्युमत्तम तवेदिदं अभितश्चेकिते वसु।
अतः संगृभ्य अभिभूते आ भर मां त्वायतो जरितुः काममूनयीः॥
(ऋ० १। ५३। ३; अथ० २०। ३। २१)

''यहाँ किसीके पास सोना-चाँदीरूप धन है। किसीके पास बलका, किसीके पास यशका, किसीके पास ज्ञानका और किसीके पास भावका धन है, अर्थात् जो विविध प्रकारका धन यहाँ सब ओर फैला हुआ है, उस सबका उद्भव, प्रभव उस द्युमत्तम देवसे हुआ है। धन शक्ति है। इस शक्तिका एकमात्र स्वामी वही शचीव, शक्तियोंकी शक्ति है। धन या शक्ति यहाँ कुछ करती देखी जाती है, पर वह 'पुरुकृत्' है। उसके बलपर ही ब्रह्माण्ड टिका है, ग्रहपिण्ड गतिशील हैं, वायु चलता है, अग्नि जलाता है, जल शीतलता देता है और मिट्टीसे उत्पन्न अन्नादिसे सबका पोषण होता है। विविध प्रकारके प्राणियोंका वही नियन्ता है।'' वह पुरुकृत् न जाने कितने कार्य कर रहा है—पर सब सहज भावसे—'स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च'।

इस धन या शक्तिमेंसे मुट्ठी भर-भरकर वह दे तो सबको रहा है, पर जो जरिता, स्तोता भक्त हैं, उनको देकर तृप्त भी कर रहा है। अन्योंकी अभिलाषाएँ सम्भव है, अपूर्ण रह जायँ, पर भक्तकी आकाङ्क्षा सदैव पूर्ण होती है। अन्योंको अन्योंका अवलम्बन रहता है, पर भक्तका तो एकमात्र आश्रय उसका प्रभु है। वह उसके अतिरिक्त अन्य किसीसे याचना ही नहीं कर सकता।

द्युमत्तमसे चमक भी भक्तको ही सर्वाधिक प्राप्त होती है। वह धनकी आकाङ्क्षा नहीं करता, बलकी अभिलाषा नहीं करता, यशकी इच्छा भी उसके अंदर नहीं होती—उसका ज्ञान प्रभु है, उसका बल प्रभु है, उसका धन, उसका सर्वस्व वही एकमात्र परमसत्ता है, जो अस्तित्वोंका अस्तित्व, चैतन्यका चैतन्य और परमानन्दस्वरूप है। वह अकाम, अमृत, स्वयम्भू, परमात्मतत्त्व निरन्तर रससे तृप्त रहता है। उस सतत युवा, अजर, अमर आत्माको जानकर ही भक्त मृत्युसे भयभीत नहीं होता। उस द्युमत्तमकी शरणमें पहुँचकर भक्त द्युमान् बन गया है। उसे मृत्युकी भी मृत्यु दिखायी दे रही है। फिर भय कहाँ? प्रकाशमें पहुँचकर वह भी अभय एवं अमर बन गया है। द्युमत्तम! अपने प्रकाशकी एक किरण मुझे भी दे दो।

शिव-स्मरण

(लेखक—श्रीसुदर्शनसिंहजी)

कुन्दइन्दुदरगौरसुन्दरं अम्बिकापतिमभीष्टसिद्धिदम् ।
कारुणीककलकञ्जलोचनं नौमि शंकरमनङ्गमोचनम् ॥

कुन्द—शुद्ध सत्ता । गन्धवती पृथ्वीका निर्मल उज्ज्वल तन्मात्र-स्वरूप ।

इन्दु—घनीभूत आह्लाद ।

दर—शङ्ख, ज्ञानका चिन्मात्र-स्वरूप । अनिमित्त अघोषित स्वरका उज्ज्वल प्रतीक ।

'कुन्द इन्दु दर गौर'—शुद्ध-सच्चिदानन्दघन-विग्रह, किंतु 'सुन्दरं' परम मनोरम ।

'अभीष्टसिद्धिदम् अम्बिकापतिम्'—अम्बिका—जगजननी, परमकरुणामयी, ममतामूर्ति और सर्वाभीष्ट—सकल लौकिक, पारलौकिक कामनाओंका उदय उनके अरुण मृदुल चारु चरणोंकी छायासे ही होता है । उन वात्सल्य-मयीके आराध्य—सर्वाभीष्टप्रदायक ।

'अनङ्गमोचनं शंकरम्'—कामको भस्म करके परम कल्याण करनेवाले प्रभुको 'नौमि' नमस्कार करता हूँ ।

शङ्खोज्ज्वल कुन्दकुसुम-सुकुमार श्रीमूर्ति और उससे आह्लादकारी राशि-राशि ज्योत्स्ना झर रही है । झर रही है ज्योत्स्ना और अणु-अणु उसमें स्नान करके आनन्द-नृत्य कर रहा है । प्रकृतिका कण-कण नाच रहा है उस कल्याणधारामें स्नान करके । गङ्गाधर शशाङ्क-शेखर त्रिलोचन वह सच्चिदानन्दघन श्रीमूर्ति मनमें आये—प्यासे प्राण पुकारें तो आयेगी ही । प्राण पुकारें तो—'शिव ! हर ! महादेव !'

'क्यों पुकारें ?'

मत पुकारिये; किंतु यह स्मरण रखिये—

ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा ।
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति ॥
(दुर्गासप्तशती)

देवी भगवती महामायाको जानते हैं ? यह अनादि सृष्टि जिनकी क्रीड़ा है, कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंका सृजन-संहार जिनका विनोद है, जीवका साधन, जीवका योग-तप, ज्ञान-ध्यान उनको प्रतिहत कर पायेगा ?

महानिष्ठुरा है वह मुण्डमालिनी—हाँ, मुण्डोंकी माला पहिनती है वह कृपा—कृपामयी । वह अकेली कभी नहीं होती । उसका विनोद है—कोई उसके रंगमञ्चसे भागने लगा तो पैर पकड़कर पटक देती है । बड़े-बड़े ज्ञानियोंका चित्त वह बलपूर्वक खींच लेती है—छीन लेती है और दे देती है मोहको ।

उस कराल ताण्डविनीके सम्मुख टिकेंगे आपके पद ?

भयभीत होनेका कारण नहीं है । वह चामुण्डा, छिन्नमस्ता ही नहीं है । वह त्रिपुरा है, गौरी है, अम्बिका है । जब वह अपने आराध्यके चरणोंमें होती है, उसे केवल अपने शिशु दीखते हैं । सृष्टिकी समस्त माताओंका वात्सल्य उसके वात्सल्याम्बुधिके सीकरसे समुद्भूत होता है । वह ममतामयी, स्नेहमयी अम्बिका—शिशुके प्रति उसकी स्नेहधारा अनवच्छिन्न है ।

इस वात्सल्यमयी अम्बिकाके जो आराध्य हैं, इसके जो स्वामी हैं, वे आपके मन-मन्दिरमें आ जायँ तो अम्बिका आपकी सँभाल स्वयं कर लेगी । शिशुको अपने लालन-पालनकी मातासे प्रार्थना नहीं करनी पड़ती ।

कामनाका उदय होता है महामायाके रागारुण श्रीचरणोंकी छायासे ! सर्वाभीष्ट—सब इच्छाएँ प्राणीके अन्तःकरणमें यह विनोदमयी ही उत्थित करती है ।

अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष—अभीष्टका क्षेत्र इससे बाहर तो नहीं होगा ?

सच पूछिये तो ये अम्बिकानाथ अभीष्टदाता नहीं हैं । इनके स्वरूपमें न कामना है, न कामनाकी पूर्ति-अपूर्ति । ये तो निर्गुण हैं—प्रकृतिका कोई गुण इनका स्पर्श नहीं करता; किंतु ये अम्बिकापति हैं न । इनका अभीष्ट-सिद्धि करनेवाला स्वरूप यही है कि ये महामायाके स्वामी हैं ।

इनके चारु चरण मनमें आये और महामाया आपके लिये जगदम्बा हो जाती है । फिर उससे शिशुका अपूर्ण अभीष्ट देखा नहीं जाता । वह स्वयं लग जाती है अभीष्टको सम्यक् सजानेमें ।

भगवान् तो अनङ्गमोचन शंकर हैं। उनका स्वरूप है—कामको भस्म करके परम कल्याण प्रदान करना।

'जहाँ काम तहँ राम नहिं।'

कामनाएँ भी रहें और जीवका कल्याण भी हो जाय—यह तो हुआ नहीं करता। शंकर भगवान् तो कामारि हैं।

आप कामनाओंपर विजय नहीं पा रहे हैं, तो चिन्ताकी बात नहीं है। जिस मदनने स्रष्टाको भी अपराजित नहीं छोड़ा, उसे आप पराजित कर कैसे सकते हैं? आपका काम कामसे लड़ना नहीं है। हिमालयपर सिर पटकेंगे तो सिर फूटेगा। हिमालय डिगनेवाला नहीं है। आपका काम है मदनारिको पुकारना—उन प्रभुका स्मरण करना। आप अपना काम कीजिये।

कामनाएँ—अरे, इनका अधिष्ठाता तो पता नहीं, कब भस्म किया जा चुका। उसे अस्तित्व पुनः मिला जिनके आशीर्वादसे, उनके आश्रितोंकी ओर देखनेका साहस करेगा वह? आप आश्रित तो बनें उस शूलपाणिके।

कई वर्ष हो गये, जब मैंने मानसरोवर-कैलासकी यात्रा की थी। मार्गदर्शक, रसोइयेके अतिरिक्त केवल एक सहयात्री थे। हम दोनों एक छोटे तम्बूमें सोते थे और रसोइया तथा मार्गदर्शक दूसरे तम्बूमें।

'दादा, मेरा मनोरथ सफल हो गया।' वे सहयात्री आयुमें छोटे होनेसे मुझे 'दादा' कहते थे। मानसरोवरके किनारे हमारा शिविर था। प्रातः उठकर उन्होंने बड़े उत्फुल्ल मुखसे यह सुनाया।

'हुआ क्या?' मैंने पूछा।

उन्होंने जो कुछ कहा, उसका सारांश दे रहा हूँ। उनके शब्द अब ठीक-ठीक स्मरण नहीं हैं। घरपर कभी उनको कोई महात्मा मिले थे। उन संतने कहा था—'यदि तुम मानसरोवरकी यात्रा करो और वहाँ सूर्योदयसे सूर्यास्ततक खुले आकाशके नीचे, व्रत करके रहो तो रात्रिमें तुम्हें उमा-महेश्वरके दर्शन होंगे।'

उन्होंने पहले दिन दोनों समय खाया नहीं था। पूछनेपर कोई ठीक कारण न बताकर कह दिया था—'इच्छा नहीं है।' मानसरोवरके किनारे दिनभर दूरतक घूमते रहे थे।

'मुझे दर्शन हो गये!' उन्होंने बतलाया—'मैंने आपको जगानेका दो-तीन बार प्रयत्न किया; किंतु 'माँ'ने रोक दिया, यह कहकर—'बच्चा सो रहा है। जगा मत।'

स्पष्ट कर दूँ कि मैंने कुछ देखा या अनुभव किया नहीं। मैं उनकी बात ही दे रहा हूँ। उन्होंने सच कहा होगा—ऐसा मुझे विश्वास है।

'तुमको कुछ वरदान मिला?' मैंने पूछा।

उन्होंने एक हस्तलिखित कागज निकाला। उसमें केवल बहुतसे नामोंकी सूची थी। उन्होंने बतलाया—'यह मेरे पूर्वजों आदिकी नामावली है, जो मैं पूछ-पाछकर बना सका। मैंने प्रभुसे वरदान माँगा—इन लोगोंको नरकसे निकाल दें! प्रभुने सूची पढ़नेको कहा। मैं एक-एक नाम पढ़ता जाता था और वे हाथसे निकालनेका हल्का संकेत करते जाते थे।'

'और कुछ?' मैंने पूछा।

'नहीं।' उन्होंने कहा—'सूची पूरी हुई और प्रभु अदृश्य हो गये माँके साथ।'

'हाय रे भाग्य!' मेरे मुखसे निकल गया—'कल्पवृक्ष-के नीचे पहुँचकर भी तुम कंगाल ही रहे।'

'आप यदि नींदमें न होते तो क्या माँगते?' उन्होंने पूछा।

'मैं क्यों माँगता?' मैंने कहा—'मुझे जो माँगना था, वह तो नींदमें होनेपर भी मुझे मिल गया।'

'क्या मिला आपको?' बहुत चौंके थे वे।

''जगज्जननीने 'बच्चा' कहा था न मुझे?'' मैंने पूछा।

''कहा तो था। मैंने दो-तीन बार जगानेका प्रयत्न किया और प्रत्येक बार माँने मना किया। प्रत्येक बार 'बच्चा' कहा। पिछली बार तो उनके स्वरमें रोषभरी झिड़की थी।'' वे बोले।

''जागनेपर भी मैं और क्या माँगनेवाला था। मुझे कहना ही यह था कि अपने श्रीमुखसे एक बार 'पुत्र' कहकर सम्बोधित करो।''

'प्रभु यदि माँगनेको कहते' उन्होंने बात बिना समझे पूछा—'क्या माँगते आप?'

'तुम जानते हो कि पुत्रको माता-पितासे लड़ने-झगड़ने-

का भी अधिकार है।' मैंने उन्हें बतलाया—'और मेरा स्वभाव झगड़ा मोल लेनेवाला है।'

'आप प्रभुसे झगड़ा करते ?' आश्चर्यसे देखते रह गये वे।

'मैं कहता—आप पिता हैं। बच्चेपर प्रसन्न हैं तो जो प्रसन्नता हो दे दें; किंतु मैं भिखारी हूँ—यह आप क्यों समझते हैं ? माता-पिताका जो कुछ है, वह तो पुत्रका स्वत्व है। उससे बाहर कुछ बचता है क्या ?'

उन सज्जनको पश्चात्ताप हुआ। वे अपने और सूचीके सब नामोंके लिये मोक्ष माँग सकते थे; किंतु अभीष्टका—कामनाका पात्र होता ही बहुत छोटा है। उसे लेकर जानेवालेके हाथ उतना ही तो आयेगा, जितना बड़ा उसका पात्र होगा।

शंकर परम कल्याणप्रदाता प्रभु हैं अनङ्गमोचन होकर। वस्तुतः जीवको लघु-बन्धनग्रस्त किया है कामनाओं—उसके छोटे-बड़े अभीष्टोंने। इस कामनासमूहका ही ध्वंस अभीष्ट है। कामनाशका ही नाम कल्याण है और कामनाश होता है तब, जब कामारिको अपने चिन्तनका विषय बनाया जाता है।

आप मेरे साथ शिव-स्मरण करेंगे ? अभीष्टपूर्ति चाहिये तो और कामनाओंसे मुक्त होकर कल्याण चाहिये तो—करणीय तो यही है।

महादेव शिवशंकर शम्भो उमाकान्त हर त्रिपुरारे।
मृत्युञ्जय वृषभध्वज शूलिन् गङ्गाधर मृड मदनारे॥
हर शिवशंकर गौरीशं वन्दे गङ्गाधरमीशम्।
रुद्रं पशुपतिमीशानं कलये काशीपुरिनाथम्॥
शिव शम्भो ! शिव शम्भो ! हर गौरीशंकर जय शम्भो !

सूर्य भगवान्‌का साक्षात्कार

(लेखक—श्रीहरिकिशनदासजी अग्रवाल)

हम सूर्यको तो रोज देखते हैं, पर उसका साक्षात्कार नहीं करते। नित्यप्रति सूर्योदय होता है और अस्त भी हो जाता है, किंतु हम उसे देखते हुए भी देखते नहीं। कोई कहेगा कि यह कैसे हो सकता है कि हम सूर्यकी ओर दृष्टि तो करें, पर उसे देख नहीं रहे हों। जबतक हम समग्र चेतनाके साथ और पूर्ण प्राणोंको लगाकर नहीं देखते, तबतक हमें वास्तविक दर्शन नहीं होते। उसका बाहरी रूप तो दीखता है, किंतु उसके अंदर जो अस्ति-भाति-प्रिय रूप छिपा है, वह नहीं दिखायी देता।

हम किसी फूलको देखते हैं, तो उसके बाहरी आकार-प्रकार-नामको ही देखते हैं। बहुत अधिक करेंगे, तो नाकसे उसके सुगन्ध एवं हाथोंसे उसकी कोमलताका अनुभव करेंगे; यह इन्द्रिय-विषय-ज्ञान, ज्ञान नहीं है। ज्ञान उसे कहते हैं कि हमें किसी वस्तु-व्यक्तिका पूर्ण ज्ञान हो, अधूरा नहीं। जब हमारा मस्तिष्क विकारों तथा संस्कारोंसे ढका रहता है, तब हम किसी वस्तुको पूर्णतया देखते ही नहीं। जब हम देख रहे होते हैं, तब वासनाओंके वश जो विचार हमारे मनमें उठते रहते हैं, वे हमें किसी वस्तु या व्यक्तिको पूर्णरूपसे देखने नहीं देते। किसी मनुष्यकी आँखोंमें मोतिया उतर आया हो तो उसकी आँख तो है, वह कुछ-कुछ देख भी रहा है, पर वह वस्तुको पूरी तरह पहचान नहीं पाता है। इसी प्रकार हमारी बुद्धि विचारों—संस्कारोंसे आवृत हो जानेपर हमारा देखना विकृत देखना हो जाता है। जैसे हम किसी स्त्रीको देखते हैं, तो हमारे मनमें कई प्रकारके भाव उदय हो जाते हैं, जैसे यह स्त्री लंबी, ऊँची, पतली, मोटी, गोरी या काली है और उसके बारेमें कई प्रकारके संकल्प-विकल्प खड़े हो जाते हैं, जिनके कारण हम उस स्त्रीको यथार्थ रूपसे नहीं देख पाते। हमारे संकल्प उसके स्वरूपको विकृत कर देते हैं। उसके अंदर जो अस्ति-भाति-प्रियता है, वह हमें दिखायी नहीं देती। अगर किसी स्त्रीको पाञ्चभौतिक दृष्टिसे देखा जाय तो भी वह पुरुषके समान घास-फूल-सब्जी तथा अन्न इत्यादिका विकार ही तो है। स्त्री-पुरुषके शरीरोंके आकारमें तो भेद हो सकता है, किंतु उसके पञ्चभूतोंमें नहीं। उसके अंदर जो चेतना है, वह भी स्त्री तथा पुरुष दोनोंमें समान है। एक ही परमात्मा दोनोंमें निवास कर रहा है, दोनोंको प्रकाशित कर रहा है। किंतु हमारा देखना इतना विकृत हो चुका है कि हम अपने ही मनकी बनायी काल्पनिक स्त्रीको तो देखते हैं, किंतु वास्तविक स्त्रीको नहीं देख पाते। वास्तविक स्त्री विकारका हेतु नहीं, हमारी अपनी ही बनायी काल्पनिक स्त्री विकारका हेतु है। विचार ही विकार हैं और जब विचारोंसे मन ढका रहता

है, तब हमें कोई भी वस्तु या व्यक्ति दिखायी नहीं देता। हम सूर्य, चन्द्रमा, तारागण, वृक्ष, पौधे, जंगल, नदी और नालेको देखते हैं, किंतु उनका असली स्वरूप न दिखायी देकर हमें उनका मनोमयी आकार-प्रकार दिखायी देता है। यही कारण है कि एक ही दृश्य किसीको अच्छा लगता है, किसीको नहीं। किसीको प्रकाश अच्छा लगता है, पर उल्लू एवं चमगादड़को अच्छा नहीं लगता। वह रातके अँधेरेमें ही देखता है। इसी प्रकार मनुष्य विचारके अँधेरेमें ही देखनेका आदी हो गया है, वह स्वप्रकाशमें किसी वस्तुको देखता ही नहीं। स्वप्रकाशमें किसी वस्तुको देखनेपर उसका यथार्थ स्वरूप प्रकट होता है। हमें कण-कण एवं तृण-तृणमें तथा नदी-नाले, वृक्ष-फूल-पौधे, जंगलों, वस्तुओं तथा व्यक्तियोंमें सर्वत्र परमात्मा ही दिखायी देने लगता है। हर जगह वही रह जाता है, हम रह ही नहीं जाते। मनुष्यका जहाँ 'मैंपना' विलीन हुआ कि वहाँ परमात्मा प्रकट हो जाता है।

परमात्माको आवृत करनेवाला मनुष्यका 'मैं-पना' ही है। वही स्पष्टतया वस्तुओं और व्यक्तियोंको देखने नहीं देता। हमने एक काले रंगका चश्मा पहन रक्खा है, जिसके कारण हमें सभी वस्तुएँ काली दिखायी देती हैं; किंतु ज्यों ही हम वह चश्मा उतार देते हैं और बिना चश्मेके स्वाभाविक दृष्टिसे देखते हैं तो हमें वस्तुओं एवं व्यक्तियोंका स्वाभाविक स्वरूप दिखायी देता है।

हम नित्यप्रतिकी आदतोंमें इतना फँस गये हैं कि वही प्रातःकाल उठना, चाय पीना, रेडियो-अखबारसे निपटकर नहा-धोकर आफिस जाना, भोजन करना, चुहलबाजी करना, गप्पें हाँकना और फिर सो जाना। हमें किसी चीजमें नवीनता दिखायी ही नहीं देती। किसी मनुष्यके कमरेमें भगवान्‌का चित्र लगा हुआ था। वह चित्र नित्य उसके सामने होता था; किंतु वह सामने होता हुआ भी दिखायी नहीं देता था। वस्तुका वास्तविक स्वरूप हमें तब दिखायी देता है, जब हम उसे समग्र ध्यानसे पूर्ण चेतनाके साथ निहारते हैं और वह समग्र ध्यान तभी होगा, जब कि मन विचारोंसे विमुक्त होगा। विचाराधीन मन किसी वस्तु या व्यक्तिको देखनेकी क्षमता खो बैठता है। इस क्षमताको सुरक्षित बनाये रखनेके लिये हमें करना यही है कि हम मनको रोकनेकी चेष्टा न करें। उसे सहज स्वाभाविक स्थितिपर छोड़ दें और केवल प्रेमपूर्वक निहारें। प्रेमपूर्वक निहारनेमें ही मन अमनीभावको प्राप्त होता है। उर्दूमें 'अमन'का अर्थ शान्ति है। जहाँ मन अमनीभावको प्राप्त होता है, वहाँ शान्ति होती है और जहाँ मनमें विषय, राग-द्वेष हों, वहाँ मन शान्त नहीं होता है।

शान्त और मौन मनसे देखी हुई वस्तु हमें यथार्थतः दिखायी देती है। नहीं तो, बाहरी आकार-प्रकार देखते हुए भी हम उसकी वास्तविकता नहीं देख पाते।

सूर्य नित्यप्रति उदय होता है, अस्त होता है। वह रोज सामने आनेपर भी हम उसे समग्र चेतनासे देखते ही नहीं। उसके प्रकाशमें हम सभी काम करते हैं, किंतु उसे नहीं देखते। इसी प्रकार परमात्माकी प्रेरणासे सभी कार्य कर रहे हैं, किंतु हम उसे देख नहीं रहे हैं। वह निमित्त होते हुए भी ओझल ही है।

'साक्षात्कार' उसे कहते हैं, जिससे हम संस्कारों, विकारों तथा विचारोंके बिना, तटस्थतापूर्वक जो चीज जैसी है, उसे वैसी ही देखें। यथार्थ ज्ञानका नाम साक्षात्कार है। जहाँ ज्ञानपर विचारों, विकारों तथा संस्कारोंका प्रभाव है, वहाँ साक्षात्कार नहीं होता। जब हम सूर्य भगवान्‌के तटस्थतापूर्वक समग्र चेतनापूर्ण दर्शन करते हैं, तो वही हमारा 'साक्षात्कार' है। संकल्प-विकल्प तथा विचाराधीन मनसे हम उसे देखते हैं, तो उसे देखते हुए भी नहीं देख पाते, यही 'अज्ञान अवस्था' है।

विश्वमें शान्तिकी स्थापना

(लेखक—श्रीचन्द्रशेखरजी मिश्र शास्त्री, एम्० ए०; साहित्यरत्न, साहित्यालंकार)

आज विश्वमें चारों ओर अशान्तिके काले बादल मँडरा रहे हैं। यह अशान्ति मानवजीवनके हर क्षेत्रमें अत्यन्त तीव्र गतिसे व्याप्त हो रही है। वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक एवं राजनीतिक—मानवजीवनके ये सभी क्षेत्र इस अशान्तिसे प्रभावित हो रहे हैं। सद्भावना, सद्व्यवहार एवं सत्प्रेम—मानवताकी इन बहुमूल्य निधियोंके प्रतिबिम्बका दर्शन भी दुर्लभ हो गया है। आज मानव अपनी जिस वैज्ञानिक प्रगतिसे यह आशा लगाये बैठा है कि यह उसे सुख-वैभवके साधन उपलब्ध कराकर उसके जीवनको शान्ति प्रदान करेगी, वही इस विश्वके समस्त वैभव, सौन्दर्य एवं मानव-संस्कृतिको ही समूल नष्ट करनेका कारण बन रही है। मनुष्य यह भूल गया है कि उसके यथार्थ ज्ञानका मूल स्रोत उसकी बुद्धि नहीं, वरं आत्मा है। आज जो भी वैज्ञानिक आविष्कार हो रहे हैं, वे सभी उसकी कुभावना एवं अहंकारजनित बुद्धिसे ही प्रेरित तथा संचालित हो रहे हैं। अतः जबतक हम अपने भूले हुए जीवन-स्रोतसे सम्पर्क स्थापित नहीं करते, तबतक इस विश्वमें किसी प्रकारसे भी शान्तिकी स्थापना सम्भव नहीं।

जीवनके इस मूल स्रोत—आत्मासे किस प्रकार सम्पर्क स्थापित किया जा सकता है ? इस प्रश्नका उत्तर एक बार नहीं, अनेक बार अनेक रूपोंमें इस विश्वके महान् मनीषियों, संतों तथा अवतारोंने अपने जीवनके ज्वलन्त उदाहरणोंद्वारा हमारे समक्ष प्रस्तुत किया है। विश्वके कोने-कोनेमें महान् मानवताके ये उदाहरण उपदेशों, कथाओं, सिद्धान्तों तथा धार्मिक ग्रन्थोंके रूपमें आदिकालसे संचित होते चले आ रहे हैं; परंतु फिर भी, यह भूलोक उन्नतिसे अवनति एवं अवनतिसे उन्नतिकी ही परिधिमें चक्कर लगा रहा है और उसे वह शाश्वत शान्तिका प्रतिबिम्ब भी नहीं प्राप्त हो सका, जिसको प्राप्त करानेके लिये ही प्रत्येक युगमें महान् आत्माएँ इस भूलोकपर अवतरित होती रहती हैं। इस असफलताका मूल कारण क्या है ? बस, इसी प्रश्नके उत्तरमें ही इस शाश्वत शान्तिकी समस्याका निराकरण भी संनिहित है।

हम सभी यह जानते हैं कि मनुष्यके सम्पूर्ण जीवनका कार्यकलाप उसके विचारों एवं भावनाओंद्वारा प्रेरित तथा संचालित होता है। यदि हम थोड़ा भी अन्तर्मुखी होकर अपने विचारों और भावनाओंकी इस अविरल धाराकी ओर दृष्टिपात करें, तब हम देखेंगे कि हमारे अन्तरमें अहंकार एवं स्वार्थ-जनित एक नहीं, असंख्य कुविचारों और कुभावनाओंकी ग्रन्थियाँ बन चुकी हैं। इन ग्रन्थियोंसे छुटकारा पानेके लिये कोई प्रयत्न या प्रयास करनेकी अपेक्षा हम इन्हींमें आनन्द लेते रहते हैं। यह आनन्द कितना क्षणिक होता है और इसका परिणाम कितना भयावह है ! यह तो हमारे व्यक्तिगत, पारिवारिक एवं सामाजिक जीवनसे स्वतः ही प्रकट है। अतः आज सबसे प्रथम आवश्यकता इस बातकी है कि हम दूसरोंके दुर्गुणों तथा विश्वमें व्याप्त अनेक बुराइयोंको देखनेकी अपेक्षा स्वयं अन्तर्मुखी होकर अपने जीवनके स्रोत—विचारों और भावनाओंकी ओर दृष्टिपात करें और दृढ़ संकल्पके साथ इस प्रयत्न और प्रयासमें लग जायँ कि कुविचारों और कुभावनाओंकी इन ग्रन्थियोंसे मुक्ति पाकर हम अपना सम्पूर्ण जीवन सद्विचारों और सद्भावनाओंसे परिपूर्ण कर लें। इन सद्विचारों और सद्भावनाओंका मानव-जीवनपर ही नहीं, वरं इस अचेतन तथा जड कही जानेवाली प्रकृति तथा पञ्चतत्त्वोंपर भी कितना व्यापक प्रभाव पड़ता है। इस विषयमें कुछ तत्त्वज्ञानियोंने बड़े ही सारगर्भित अन्वेषण आरम्भ कर दिये हैं।[1] आशा है कि यह अन्वेषण मानवजीवनको यथार्थ मानवता प्रदान करनेमें निश्चित रूपसे सफल होंगे।

इस लेखको पढ़ते समय पाठकोंको यह जिज्ञासा हो सकती है कि 'आज विश्वमें अनेक धार्मिक सम्प्रदाय एवं आध्यात्मिक संस्थाएँ इसी सद्भावना एवं सद्विचारके ही जीवन-सिद्धान्तका प्रचार कर रही हैं, फिर भी उनके सिद्धान्तों एवं उपदेशोंका व्यापक प्रभाव लोगोंके जीवनपर क्यों नहीं पड़ रहा है ?' इसका मूल कारण केवल एक है और वह यह कि इन उपदेशकों एवं तत्त्वज्ञानियोंमेंसे अधिकांशका

---

१. देखें ग्रन्थ 'विश्व-शान्तिकी खोज'—(लेखक—श्रीव्रजनारायण मेहरोत्रा, प्रकाशक—रघु-साहित्य-प्रकाशन, २४ । १६५, रामनारायण बाजार, कानपुर—१ तथा ग्रन्थ 'पुण्य-पारिजात' (परम संत स्वामी रामानन्दजी, संत कबीरके गुरुदेवद्वारा रचित) ।

स्वयंका आन्तरिक जीवन ऐसी सद्भावनाओं एवं सद्विचारोंसे ओतप्रोत नहीं है। आज हर धार्मिक संस्था इस बातका दावा कर रही है कि उसीके बतलाये हुए मार्गपर चलनेसे ही मनुष्यको शान्ति, मोक्ष, आत्मसाक्षात्कार—यहाँतक कि ईश्वरका साक्षात्कार—यह सभी कुछ सम्भव हो सकता है। परंतु इन धर्म-उपदेशकोंको यह ज्ञात नहीं कि उस अनन्तेश्वरने, जो अनन्त लोक-लोकान्तरोंका रचयिता है, अपने अनन्त जीवोंको इन आध्यात्मिक तथ्योंके गूढ़ रहस्योंको समझाने, आत्मसात् कराने तथा अन्ततोगत्वा अपनी अनन्त दयासे अपनी इच्छाकी निकटतम स्थितितक पहुँचानेके लिये कुछ इनी-गिनी धार्मिक तथा आध्यात्मिक संस्थाओंको ही विशेष रूपसे अधिकार नहीं दिया है। यदि हम गम्भीरतापूर्वक इस स्थितिपर विचार करें तो हम पायेंगे कि इन संस्थाओंके संचालनके पीछे वहीं सूक्ष्म अहंकारकी भावना ही कार्य कर रही है। यह तुच्छ लेखक विनम्रतापूर्वक पाठकोंसे क्षमा-याचना करते हुए यह भी लिखनेकी धृष्टता कर रहा है कि यदि हम इस भूमण्डलके उन भागोंमें जाकर देखें, जहाँ लोग ईश्वर और आत्मातककी सत्तापर विश्वास नहीं करते, वहाँ भी हम ऐसे मनीषी एवं आदर्श मानव पायेंगे, जो केवल अपने अहंकाररहित सद्विचार एवं सद्भावनाओंसे युक्त सेवामय जीवनसे मानवताका वह संदेश प्रसारित कर रहे हैं, जो बड़े-बड़े धर्म-उपदेशकोंसे भी सम्भव नहीं है। ऐसे नास्तिक कहे जानेवाले महान् मानवोंको ऐसा आदर्श जीवन व्यतीत करनेके लिये कौन प्रेरित करता है? यह है—केवल उसकी दया, जो गुप्तरूपसे अपनी एवं अपने स्वामीकी सत्ताको गुप्त रखते हुए अनन्त जीवोंको अनन्त रूपों तथा मार्गोंद्वारा अपने परम प्रिय स्वामीकी इच्छाके निकट लानेके हेतु अथक प्रयास तथा प्रयत्नमें अनवरत रूपसे लगी हुई है। अतः आज हम सबसे प्रथम किसी भी दूसरे व्यक्ति, संस्था, धर्म एवं विचारधाराको हेय तथा अपने धर्म एवं विचारधाराको श्रेष्ठतर समझनेकी अपेक्षा उस अनन्तेश्वरकी अनन्त दयाकी याचना करते हुए जीवनके मूल स्रोत–विचारों एवं भावनाओंको पवित्र बनानेमें दृढ़ संकल्पके साथ लग जायँ। ये सद्विचार तथा सद्भावना ही शाश्वत शान्तिके प्रथम सोपान हैं।

यह तो हुई अन्तर्जीवनकी शुद्धि। अब हम थोड़ा अपने बाह्य जगत्की ओर दृष्टिपात करें। हम यह जानते हैं कि हमारे स्थूल शरीरसे लेकर इस सम्पूर्ण प्रकृतिकी रचना पञ्चतत्त्वोंसे हुई है। इन पञ्चतत्त्वों—(पृथ्वी, जल, अग्नि, गगन तथा वायु) का स्वाभाविक रूप नगरोंके कोलाहलसे दूर खुले हुए स्थानों, जंगलों, पहाड़ों, झरनों तथा कलरव करती हुई सरिताओंके निकट देखनेको मिलता है। मन्दगतिसे बहती हुई वायु, चञ्चल गतिसे कलरव करता हुआ झरनों तथा सरिताओंका जल, खुले हुए खेतोंकी मिट्टीकी सुगन्ध, सूर्यकी किरणोंसे प्राप्त स्वाभाविक उष्णता एवं प्रकाश तथा खुले हुए असीम आकाशकी व्यापकता—यह पञ्चतत्त्वोंका स्वच्छन्द एवं स्वाभाविक रूप कितना आनन्ददायक और आकर्षक है! इसके साक्षी तो वे ही हो सकते हैं, जिन्होंने ऐसे स्वच्छन्द वातावरणमें विचरण किया हो। आज मानव जितना ही अपने भौतिक सुखकी प्राप्तिके लिये इन पञ्चतत्त्वोंकी स्वाभाविक स्वतन्त्रता तथा स्वच्छन्दताका अपहरण करता जा रहा है, उतना ही वह उस शाश्वत शान्ति तथा अपूर्व आनन्दसे दूर होता जा रहा है, जो उसे इन तत्त्वोंके स्वतन्त्र तथा स्वच्छन्द वातावरणमें प्राप्त होता है। आज हम जलके स्वाभाविक प्रवाहको रोककर बड़े-बड़े बाँध बनाते हैं और उस जलको बड़े-बड़े लौहयन्त्रोंके चक्रोंके मध्यसे हठात् प्रवाहित कराकर उससे विद्युत् उत्पन्न करते हैं। उस विद्युत्-शक्तिसे जहाँ एक ओर मानवने अपने सुख-सुविधाओंके साधन बनाये, वहीं दूसरी ओर इन्हीं साधनोंसे उसकी आत्मिक शान्तिको कितना आघात पहुँचा है, वह कटु सत्य आज किसीसे छिपा नहीं है। आजका वायुमण्डल तीव्र ध्वनिप्रसारक यन्त्रोंद्वारा प्रसारित ध्वनियों तथा कारखानोंकी मशीनोंकी गड़गड़ाहट तथा तीव्रगामी वायुयानोंकी तीव्र गतिद्वारा पूर्णरूपसे अस्तव्यस्त तथा अशान्त हो चुका है। इसी प्रकार हम सूर्यकी किरणोंसे स्वाभाविक उष्णता तथा प्रकाश प्राप्त करनेकी अपेक्षा विद्युत्से उपलब्ध कृत्रिम साधनोंसे कृत्रिम रूपमें इन दोनोंको प्राप्त करते हैं।

आजका वैज्ञानिक इन पञ्चतत्त्वोंकी स्वाभाविक स्वच्छन्दतामें व्यतिक्रम उत्पन्न करनेकी जो भयंकर भूल कर रहा है, उसका मूल कारण यह है कि वह इस यथार्थ तथ्यको नहीं समझ पा रहा है कि ये पञ्चतत्त्व भी उतने ही संवेदनशील, चेतन और जागरूक हैं, जितने कि हम जीवधारी मनुष्य। जिस प्रकार हमारी स्वतन्त्रताका अपहरण होनेपर हमारे अंदर हमारी स्वतन्त्रताका अपहरण करनेवाले व्यक्तिके विरुद्ध एक तीव्र प्रतिशोधकी भावना उत्पन्न होती है और हम स्वाभाविकरूपसे उसका अहित ही सोचते तथा करते हैं,

ठीक उसी प्रकार आजका मानव इन पञ्चतत्त्वोंको जितना ही कृत्रिम वैज्ञानिक यन्त्रों तथा सूत्रोंद्वारा परतन्त्रताकी बेड़ियोंमें कसता जा रहा है, उतना ही ये तत्त्व प्रतिशोधकी भावनासे प्रेरित हो हमारी शाश्वत शान्तिको हर प्रकारसे भंग करते जा रहे हैं। यदि हम इन पञ्चतत्त्वोंकी स्वतन्त्रतामें किसी प्रकारका व्यतिक्रम उत्पन्न करनेकी अपेक्षा इनके प्रति सद्भावना रखते हुए इनका उपयोग इनके स्वाभाविकरूपमें अपने जीवनयापनके लिये करें तो यह निश्चित है कि ये पञ्चतत्त्व हमारे जीवनके समस्त कार्यकलापोंमें ऐसा अपूर्व सहयोग प्रदान करते हैं, जो कि हमारी कल्पनासे भी परे है। आज विश्वमें कुछ चिन्तनशील विद्वानों तथा तत्त्वज्ञानियोंने गम्भीरतापूर्वक इस विषयपर चिन्तन, मनन एवं शोध-कार्य आरम्भ कर दिया है कि मनुष्य किस प्रकार इन पञ्चतत्त्वोंका सार्वभौमिक सहयोग प्राप्त करके अपने जीवनको सुखी एवं शान्त बनाते हुए उस दैवी जीवनके निकट पहुँच सकता है।

उपर्युक्त तथ्योंसे यह स्पष्टरूपसे प्रकट है कि मानव-जीवनका सर्वाङ्गीण विकास सद्विचार एवं सद्भावनापर आधारित है; चाहे वह सद्भावना मानवके प्रति हो अथवा प्रकृतिके पञ्चतत्त्वोंके प्रति। इसी स्थलपर जिज्ञासु पाठक यह प्रश्न कर सकते हैं कि ऐसा सद्भावनायुक्त जीवन किस प्रकार सम्भव है? यह तुच्छ लेखक अपने जीवनके यथार्थ अनुभवों-के आधारपर यह लिखनेका साहस कर रहा है कि ऐसे सद्भावनायुक्त जीवनकी प्राप्तिके सहज एवं सुलभ साधन हैं—'सेवा और सुधान्य'। यह 'सेवा' शब्द सुनने, पढ़ने और कहनेमें बड़ा ही सरल प्रतीत होता है, किंतु सद्भावनायुक्त निःस्वार्थ सेवाकी भावनाको अपने सम्पूर्ण जीवनमें उतारना कितना कठिन है—यह तो वही संस्कारी सुपात्र जानते हैं जिन्होंने ऐसा जीवन व्यतीत किया हो। इसी प्रकार हम सभी 'सुधान्य' शब्दसे भी किसी-न-किसी रूपसे परिचित हैं। परंतु जीवनमें 'सुधान्य' कैसे अर्जित किया जाता है? अन्नकी उपजसे लेकर उस अन्नसे भोजन बनाने तथा उस भोजनको ग्रहण करनेकी समस्त प्रक्रियाओंद्वारा इस अन्नको कैसे 'सुधान्य' में परिणत किया जाता है? और ऐसे सुधान्यसे पोषित शरीर एवं भावनाओंका हमारे जीवनपर क्या अलौकिक प्रभाव पड़ता है?—इन सारगर्भित तथ्योंका विशद वर्णन कुछ तत्त्वज्ञानियोंद्वारा रचित ग्रन्थोंमें मिलता है।[1]

इस तुच्छ लेखकका पाठकोंसे यही विनम्र निवेदन है कि हम सभी ईश्वरकी अनन्त दयापर पूर्ण भरोसा और विश्वास रखते हुए सद्विचार और सद्भावनायुक्त दैवी जीवनको सेवा और सुधान्य-ऐसे अलौकिक साधनोंसे प्राप्त करनेके लिये हर प्रकारसे दृढ़ संकल्पके साथ तत्पर हो जायँ, जिससे कि हम ऐसे जागरूक जीवनद्वारा अपने व्यक्तिगत जीवनसे लेकर समस्त विश्वमें उसीकी दयासे शाश्वत शान्तिकी स्थापनामें सक्रिय सहयोग प्रदान करने-हेतु निमित्त बन सकें।

भगवान्‌का मङ्गल-विधान

पुरुषार्थ करनेवालेको यदि असफलता मिलती है, तो वह अपने कर्ममें त्रुटि तथा दूसरोंको बाधक मानकर दुखी होता है। प्रारब्धवादी असफलतामें अपने भाग्यको कोसकर दुखी होता—रोता है। पर जो प्रत्येक फलमें भगवान्‌की कृपासे भरा हुआ भगवान्‌का मङ्गल-विधान देखता है, वह न तो प्रचुर सम्पत्तिमें हर्षित होता है, न भारी विपत्तिमें रोता है। वह शान्तिपूर्ण चित्तसे निरन्तर अनुकूलता-प्रतिकूलता—दोनोंमें भगवान्‌का मङ्गलमय विधान मानकर उसीमें कल्याण मानता हुआ आनन्दमग्न रहता है। वह हर अवस्थामें भगवान्‌की सुहृदता तथा कृपाके दर्शन करता है।

१. देखें,—ग्रन्थ 'विश्व-शान्तिकी खोज', लेखक—भजनारायण मेहरोत्रा, प्रकाशक—रघु-साहित्य-प्रकाशन, २४।१६५, रामनारायण बाजार, कानपुर—१।

स्वान्तःसुख

(लेखक—प्रो० श्रीशिवानन्दजी, एम्० ए०)

महात्मा तुलसीदासने रामचरितमानसके रूपमें संस्कृति और धर्मका मूर्तिमान् वाङ्मय-विग्रह प्रस्तुत कर जनसमाजका अकल्पनीय हित किया। रामचरितमानस भारतीय धर्म, दर्शन, संस्कृति एवं सामाजिक व्यवस्थाके रूपमें साहित्यकी अनुपम कृति है। इसकी उत्कृष्टता इस तथ्यमें निहित है कि विद्वत्समाज एवं जनसाधारणमें इसकी लोकप्रियता समान है। काव्यकी श्रेष्ठताका मापदण्ड उसका गङ्गाकी भाँति सबके लिये पावन तथा हितकर होना है। इस दृष्टिकोणसे रामचरितमानस अप्रतिम है; किंतु इस लोककल्याणकर ग्रन्थके आदिमें कृतिकार महात्मा तुलसीदासने यह घोषणा नहीं ही की कि 'जनहित' उनका उद्देश्य है। उनका उद्घोषित प्रयोजन है—'स्वान्तःसुख'—अपने अन्तःकरणका सुख।

प्रसिद्ध एवं उद्भट विद्वान् मम्मटने काव्यनिर्माणके प्रयोजनोंकी चर्चा करते हुए कहा कि 'यशकी प्राप्ति, सम्पत्तिलाभ, सामाजिक व्यवहारकी शिक्षा, विपत्तिविनाश, शिवेतरक्षति, परनिर्वृति अर्थात् अपूर्व आनन्दानुभूतिके हेतु काव्य-ग्रन्थ उपादेय (प्रयोजनीय) हैं।' विद्वद्वर भरतमुनि, आलंकारिक आचार्य भामह, रीतिवादी आचार्य वामन, तदनन्तर ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन तथा आचार्य अभिनव गुप्त, आचार्य भोजराज, आचार्य कुन्तक आदिने विभिन्न प्रयोजनोंकी चर्चा की है; किंतु सब प्रयोजनोंमें मूर्धन्य 'अलौकिक आनन्द' की प्राप्ति है। यह आनन्द रसास्वादन-रूपमें निष्पन्न होता है। इसकी अनुभूतिके समय रसयिताको अन्य ज्ञेय वस्तुओंका आभास नहीं रहता है, अतएव इसे 'ब्रह्मानन्द-सहोदर' कहा गया है। काव्य-रसास्वादन विलक्षण आनन्द है, किंतु क्या यह रसानुभूतिजन्य सुख कविको भी प्राप्त होता है? यह विवादग्रस्त विषय है। जहाँ कुछ अन्य प्रयोजन सामाजिकों अथवा सहृदयजनके लिये हैं, कदाचित् यह रसास्वादन-जनित सुख भी पूर्णतः कविके लिये नहीं है। आंशिक रूपमें इसे कविके लिये स्वीकार करनेपर भी कविकी रसानुभूति कुछ पृथक् है, विलक्षण ही है। प्रत्येक दशामें मूलभूत प्रयोजन अथवा मुख्य एवं पारमार्थिक प्रयोजनपर निर्वृति अथवा आनन्दानुभूति ही है, जिसकी उपलब्धि किसी भी रूपमें स्वयं कविको भी अवश्य होती है।

सृजनात्मक प्रवृत्तिकी संतुष्टि कविको अनिर्वचनीय सुख प्रदान करती है। चित्रकार अपनी तूलिकाके द्वारा, शिल्पी पाषाणपर अङ्कनके द्वारा, कवि सुन्दर शब्द-चयनके द्वारा प्रकृतिका चित्रण करता है, सौन्दर्यका सृजन करता है। कलाकारकी भाँति ही वैज्ञानिक भी पहले प्राकृतिक सौन्दर्यसे सम्प्रेरण उपलब्ध करता है, तदनन्तर अपने ढंगसे उसका चित्रण करता है और उसके माध्यम होते हैं—तर्कसंगत सिद्धान्त एवं सूत्र। वैज्ञानिकके चित्रणमें बौद्धिक सौन्दर्यका पुट होता है और वह भी एक प्रकारका कलाकार ही होता है, जो सत्यकी अविश्रान्त खोजमें अपनी शक्तियोंका होम कर, सांसारिक भोगैश्वर्यको तिलाञ्जलि देकर, सत्यका समावेश कर प्रकृतिका बौद्धिक चित्रण कर देता है। दार्शनिक भी एक कलाकार है, जो सत्यके अनुसंधान-हेतु अथक स्वाध्याय, मनन, चिन्तनमें निमग्न रहकर प्रकृतिका मानसिक चित्रण करता है तथा नवीन विचारोंका सृजन करता है। वैज्ञानिक जीवनमें स्पष्टता और सुविधा लाता है, साहित्यकार जीवनमें रसकी उत्पत्ति करता है।

सृजनात्मक प्रवृत्ति प्रबुद्ध होनेपर कलाकारको नव-निर्माणके लिये विवश कर देती है। अनन्त परिश्रम, मनन, चिन्तन, अनुभूति, प्रयोग आदि क्रमके द्वारा उसे ज्ञानज्योतिकी एक झलक मिल जाती है। सत्यान्वेषी कालके भालको उद्भासित कर देता है और प्रगतिपथको ज्योतिपुञ्जके द्वारा आलोकित कर स्वयं धन्य हो जाता है। वेदका महावाक्य है—

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।'

कवि सत्यका अवलम्बन लेकर ब्रह्मके समीप हो जाता है। वह गृहीत ज्योतिकी झलकमें 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' का पुट देखता है तथा उसे मूर्त रूप देनेका प्रयास करता है। इस स्थितिमें वह नव-रचनाके द्वारा अवश्य ही जन-कल्याणका सूत्रपात करनेमें समर्थ है, सक्षम है। वह मनमें उठे भावोंके झंझावातके

कारण विवश हो जाता है कि अपनी नयी झलकको एक सुमधुर रूप प्रदान कर दे। कदाचित् जिस प्रकार आत्मविभोर होकर पक्षी अंडा सेनेमें विवशताका अनुभव करता है, जिससे कि बाल-पक्षीका सृजन सम्भव होता है, उसी प्रकार तन्मय होकर कलाकार भी इसके लिये मनमें बाध्यताका अनुभव करता है, जिससे कि नयी रचनाका सृजन सम्भव होता है। यह नयी रचना उसकी सर्वश्रेष्ठ निधि हो जाती है, जिसकी रक्षा एवं अमरताके हेतु वह सहर्ष अपने प्राणोंकी बाजी लगा सकता है। यह रचना उसे प्राणप्रिय होती है। सृजन-क्रिया स्वयंमें ही अनूठा सुख देती है और वही कलाकारका सबसे अधिक बढ़कर पुरस्कार है, जो उसे सृजनकालमें स्वतः प्राप्त होता है। सौन्दर्यका ग्रहण तो सुखद है ही, किंतु पुनः उसका सृजन तो अनिर्वचनीय सुख है। सृजनात्मक क्रियाके साम्यसे ही कविको ईश्वरकी कोटिमें माना गया है। अथवा ईश्वर ही सृजनके द्वारा कविमें अपने ईश्वरत्वका संदर्शन करा देता है। मन्त्रद्रष्टा ऋषिकी भाँति वह मानता है—

'यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।'

अर्थात् 'मैं इस कल्याणी वाणीको मनुष्यमात्रके लिये दे दूँ।'

'कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः।' (वेद)। वेदमें 'कवि' ब्रह्मका भी विशेषण है। 'मनीषी'का अर्थ है—प्रज्ञावान्, राधाशक्ति अथवा आह्लादिनी शक्तिसे युक्त। कवि द्रष्टा होता है, ब्रह्मके सदृश द्रष्टा है। जगत् दृश्य है। कवि क्रान्तदर्शी होकर अंदर और बाहर देखता है। उसे सम्यक् क्रान्तदर्शी होनेके कारण अन्तः तथा बहिःका समन्वय करना होता है—'देखूँ सबके उरकी डाली।' संवेदनशीलताके कारण तथा क्रान्तदर्शी होनेसे ही उसके काव्यमें 'चमत्कार'का पुट आ जाता है। कविका कर्म व्यापक होता है—वह देश, विश्व, समस्त समाज एवं प्राणीमात्रके प्रति जागरूक होता है। गहन साधना एवं अनुभूतिके कारण उसका अन्तस्तल काव्यधाराके रूपमें प्रस्फुटित होकर बहने लगता है। कवि संसारके प्रच्छन्न विधायक होते हैं। 'कविं पुराणमनुशासितारम्' (गीता), यहाँ कविका अर्थ 'सर्वज्ञ प्रभु' है। सचमुच कवि रसधारा प्रवाहित कर दैवी कर्मका सम्पादन करता है।

यद्यपि धन, यश, कीर्ति इत्यादि कविको सत्कार-स्वरूप प्राप्त होते हैं; किंतु वह उन्हें अपना उद्देश्य नहीं मानता है, उन्हें गौण एवं नगण्य मानता है। कवित्व-स्फुरण उसकी पूँजी है, जिसके फलस्वरूप उसे नानाविध लाभ सदैव होते रहते हैं। सत्यका उपासक कवि अपने उद्देश्यको विस्मृत न कर, सामान्य सुखोंके प्रपञ्चसे अलुब्ध रहकर, अपनी साधनामें अनवरत लगा रहता है, भोगभ्रमित होकर पथभ्रष्ट नहीं होता। कवि यथार्थ सत्यकी खोज कर अन्धकारमें प्रकाश-दान करता है। सत्य ही संसारका श्रेष्ठ धन है। अतएव सत्यके अन्वेषणसे बढ़कर जीवनका उपयोग अन्य कुछ नहीं है। सत्य ही सभ्यताका जनक है तथा पवित्रता एवं श्रेष्ठताका सिद्ध साधन है। कविकी खोजका क्षेत्र अनन्त होता है। विश्वका समस्त ज्ञान उसे प्रापणीय होता है। कोई साहित्य पवित्रकी आड़में होकर भी उसकी पहुँचसे बाहर नहीं रह सकता। वह जिन परिणामोंपर पहुँचता है, स्वतन्त्र होकर उन्हें सचाईसे यथावत् व्यक्त करता है। उसे कोई दण्डका भय दिखाकर भी मार्गभ्रष्ट नहीं कर सकता।

वे मानवताके घोर शत्रु हैं, जो ज्ञानपथके राही कविके मार्गको अवरुद्ध करनेका प्रयत्न करते हैं—उसे चिर-अर्जित ज्ञान सुलभ होनेमें अथवा पूर्ण भावाभिव्यक्ति करनेमें बाधा डालते हैं। कौन-सा देश, काल और समाज है, जहाँ सत्यकी वाणीका पत्थर, बरछी, शूली, गोली, गालीसे स्वागत नहीं हुआ है? फिर भी मानवने सदा सत्यका अन्वेषण किया और उसे अभिव्यक्ति भी दी। उसकी अदम्य प्रवृत्ति एवं साहस ही उसके समस्त विकासका आधार है—उसकी समस्त प्रगतिका मेरुदण्ड है। सत्यकी खोज करनेपर गैलीलियो, न्यूटन आदिको कैसा अपमान सहन करना पड़ा? ऐरहीनियसने जब स्टाकहाम विश्वविद्यालयको अपने नये विचार प्रस्तुत किये तो उसे प्रताड़ना प्राप्त हुई और घोर अपमान सहना पड़ा, जब कि कुछ वर्षोंके पश्चात् उसे उन्हीं विचारों-पर नोबल पुरस्कार मिला। ईर्ष्यालु तथा विचारहीन रूढ़िवादी व्यक्ति प्रायः सत्यानुसंधानरत मनीषियोंकी अवमानना ही करते हैं। कलाकार तथा वैज्ञानिकके रूपमें भी सत्यकी साधना कवित्वका ही तो स्फुरणमात्र है।

कविके नवसृजनका सत्कार मानो उसमें निहित ईश्वरत्वका सम्मान है। उसका तिरस्कार मानो ईश्वरका ही तिरस्कार है। कविकी नियतिकृतनियम-रहिता, ह्लादैकमयी, अनन्यपरतन्त्रा, नवरसरुचिरा भारती (वाग्देवी) सर्वोत्कृष्ट है। उसमें किसी-न-किसी मात्रामें स्रष्टाके गुण संनिहित होते हैं, जिन्हें भौतिकता, धनलोलुपता, यशःकामना अथवा क्षुद्र संकीर्णता धीरे-धीरे विनष्ट कर कविको उपहसनीय बना सकती है।

संत तुलसीदास केवल कवि ही न थे। वे सर्वप्रथम ईश्वरभक्त थे, उदात्त संत थे, महात्मा थे। तदनन्तर कुछ अन्य भी थे। उनका स्वान्तःसुख केवल कवि-जगत्का अनुभूत सृजन-सुख नहीं था। उनका 'स्व' तो प्रभुमें विलीन हो चुका था। वह कोई व्यक्तिगत संकीर्ण 'स्व' नहीं था। विश्वात्माका अन्तःकरण ही उनका अन्तःकरण था। लघु विन्दु सिन्धुमें संनिविष्ट होकर स्वयं विशाल सिन्धु हो चुका था। उनका देह, उनका इन्द्रियग्राम, उनका मन, उनकी बुद्धि परमात्माके दिव्य यन्त्र बन गये थे। भक्त और भगवान्का तादात्म्य हो चुका था। दोनों आत्मसात् थे। अतएव उनका 'स्वान्तःसुख' तो मानो विराट्का परमैश्वर्यजन्य परमानन्द था। हरि-प्रेरणा ही उनकी अपनी प्रेरणा थी। तुलसी दिव्य प्रेरणाद्वारा यथा नियुक्त होते थे, तथैव आचरण करते थे। परमार्थ, परार्थ अथवा विश्वार्थ ही तुलसीका 'स्वार्थ' था। यदि प्रभु स्वयं रामरूपमें दिव्य भगवल्लीला कर रहे थे तो मानो वे स्वयं तुलसीके रूपमें भक्तलीला कर रहे थे। सामान्यतः 'स्वान्तःसुख' ही स्वान्तर तोष है। यही श्रेष्ठ लाभ है।

जीवनेऽस्मिन् महाँल्लाभः स्वान्तस्तोषो निगद्यते।
स्वस्यान्तरात्मना सार्धमविरोधे तदिष्यते॥

अन्तरात्माकी वाणी वस्तुतः प्रभुकी ही वाणी होती है। जीवनमें यह परमोच्च लाभ है कि कोई मनुष्य राग-द्वेष, घृणा, क्रोध, पक्षपात, मोह, ममता और चिन्तासे मुक्त तथा समता एवं प्रभुमयतासे युक्त होकर स्वच्छ अन्तरात्माकी पुकार सुनकर उनके अनुसार ही आचरण करे। आत्मसमर्पणपरायण भक्तका आचरण सहज प्रभुप्रीत्यर्थ होता है, प्रभुकी प्रसन्नता ही उसका स्वार्थ है। उसका 'स्व' तो प्रभुको समर्पित हो गया है। अतः वह सर्वत्र प्रभुका दर्शन करता है। गीतामें भगवान्ने कहा है—

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥
आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

(गीता ६। ३१-३२)

"जो पुरुष समस्त चराचर भूतोंमें ऐक्यभावसे स्थित मुझको भजता है, वह योगी सब प्रकारसे वर्तता हुआ भी मुझमें ही वर्तता है। अर्जुन! जो आत्मौपम्य रूपसे सबमें समरूपसे तथा सबके सुख या दुःखमें समरूपमें देखता है, वह परम श्रेष्ठ 'योगी' माना गया है।'

शास्त्र-वचन है—

भगवान् वासुदेवो हि सर्वभूतेष्ववस्थितः।
एतज्ज्ञानं हि सर्वस्य मूलं धर्मस्य शाश्वतम्॥

'भगवान् वासुदेव समस्त प्राणियोंमें नित्य स्थित हैं, यह शाश्वत ज्ञान ही सारे धर्मका मूल है, सार है।'

सच्चे मनुष्यके स्वच्छ अन्तःकरणकी वाणी आत्माकी भी वाणी होती है। जैसे कि वासनाएँ शरीरकी वाणी हैं। इसमें कोई आश्चर्य नहीं है कि वे एक दूसरेका खण्डन करती हैं। अन्तःकरणकी वाणीका प्रतिरोध मानो आत्महत्या है। महात्मा गाँधीका कथन था कि यदि कभी अन्तःकरणकी वाणी माननेपर कोई भूल हुई प्रतीत हो तो भी वह अन्ततोगत्वा दोष न होकर उन्नतिदायक ही सिद्ध होगी। 'असत्येन सत्यमीहते,' अर्थात् सत्यका पिपासु असत्य—मिथ्याको प्राप्त होकर भी असत्यसे सत्यकी ओर बढ़ता है, सत्यको प्राप्त करता है। जीवनके सभी क्षेत्रोंमें पवित्र व्यक्तिको प्रत्येक क्रिया स्वान्तःसुखके लिये ही करनी चाहिये, वही हमारे क्रिया-कलापका श्रेष्ठ परिणाम एवं पुरस्कार है। अपनी अन्तरात्माकी आवाज सुनकर अपनी श्रेष्ठ योग्यता, क्षमता, शक्तिके अनुरूप कार्य करना ही हमारा परम धर्म है। अतएव अपने 'स्व'का क्षेत्र धीरे-धीरे बढ़ाते रहना चाहिये। केवल 'मैं' और 'मेरा परिवार' ही मेरे नहीं हैं, बल्कि नगर मेरा है, प्रान्त मेरा है, देश मेरा है, समग्र विश्व ही मेरा है। 'अशरफुल मखलूकात'से मेरा आत्मीयताका नाता है। विचार, मनन, चिन्तन, वाणी और धर्मसे चराचरमात्रके साथ अपनापन मानकर,

प्रेमभाव-परिपूरित होकर, निःस्वार्थ सेवा करना ऐसा सुख है, जो योगियोंको भी अलभ्य है । 'सेवाधर्मोऽतिगहनो योगिनामप्यगम्यः ।' ऐसा उदारमना व्यक्ति सेवाका बदला नहीं चाहता, वह अन्तःकरण होनेके कारण अपनी भूलोंसे भी शिक्षा प्राप्त कर सुधरता ही है । शुद्ध अन्तःकरण ही तो आत्मबलका मूल कारण है ।

प्रत्येक स्थितिमें श्रेष्ठ विचार, श्रेष्ठ वाणी, श्रेष्ठ कर्म वस्तुतः आन्तरिक सुखके लिये ही हैं । स्वान्तःसुख ही उनकी श्रेष्ठताका मापदण्ड है । जिस मात्रामें मनुष्यमें वास्तविक श्रेष्ठता आ जाती है, उसी अनुपातमें उसका अन्तर्दोष गहन एवं स्थायी होता जाता है । संसारके लोग हमें बुरा कहें, मूर्ख अथवा पाखण्डी भी समझें, इससे हमारा सम्बन्ध नहीं है, न हमें उससे प्रभावित होना चाहिये । हम अपने आचरणके विषयमें ही उत्तरदायी हैं, न कि दूसरोंके । संसारको प्रभुमय अथवा आत्मस्वरूप माननेवाले विशालहृदय व्यक्तिके मानस-पटलपर दूसरोंके घृणापूर्ण, क्रोधपूर्ण व्यवहार देखकर भी कटुताकी रेखा नहीं खिंचती है । ऐसा मानना भी कि, कभी तो सत्यका पता लगेगा ही, कभी लोग हमारी सचाईको जानेंगे ही, एक भूल है । दूसरे लोग हमारी अच्छाईको जानें, हम इसकी आवश्यकता ही क्यों समझें ? अच्छा आचरण तो 'स्वान्तः सुखाय' होना चाहिये । धन्यवादके द्वारा भी अपने अच्छे व्यवहारकी प्रामाणिकताकी अपेक्षा दूसरोंसे क्यों करें ? धन, कीर्ति, यश, पद-पुरस्कारके लिये, दूसरोंकी प्रसन्नताके लिये ही काम करनेवाला व्यक्ति गलत काम, अभद्र कार्य भी कर बैठेगा । मेरे विषयमें दूसरोंका क्या मत है, इससे मेरा सम्बन्ध ही क्यों हो ? दूसरोंसे अपनी अच्छाईका प्रमाणपत्र लेनेकी इच्छा तो मेरी दुर्बलता है । दूसरे लोग मेरे कर्मसे प्रसन्न होंगे या अप्रसन्न, इससे मेरा सम्बन्ध ही क्यों है ? यदि धन्यवाद पुरस्कार-प्रशंसाकी आशा करनेपर हमें उनकी प्राप्ति न हुई तो हृदयमें निराशा, कटुता, घृणा, विरोधभावना उत्पन्न होंगे, जो हमें कर्तव्यमार्गसे भ्रष्ट कर देंगे । लोकरञ्जनका श्रेष्ठ मार्ग है—उदात्त कर्तव्य-पालनके द्वारा आत्मरञ्जन । वही मेरी कर्तव्यपरायणताका मापदण्ड है । कर्तव्यपालनमें ही मेरी सफलता निहित है ।

'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।'

(गीता)

कर्तव्य-पालन ही मानवका अधिकार है, फल तो प्रभुके अधीन है । अतः फलसे हमारा क्या सम्बन्ध है ? फलकी इच्छासे काम करनेवाला व्यक्ति कभी भी पथच्युत हो सकता है और उसका मानसिक संतुलन भी बिगड़ सकता है । कर्म करनेके उपरान्त, तज्जन्य आत्मसंतोषको ही उसका श्रेष्ठ पुरस्कार मानकर, कर्मको प्रभुके लिये समर्पण करनेवाला व्यक्ति सदैव शान्त एवं सुखी रहता है । जिस कर्मसे उसको वास्तविक शान्ति प्राप्त होती हो, उसीसे विश्वका कल्याण भी होगा । पवित्र अन्तःकरणके अनुसार शुभ कर्मके निःस्वार्थ सम्पादनके द्वारा एक ओर स्वान्तःसुख उत्पन्न होता है, दूसरी ओर जनकल्याण । मानो ये दोनों एक ही वस्तुके दो पहलू हैं—'आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ।' अपना सुख जगत्‌के कल्याणमें ही निहित है । यदि हम किसीके विचार वा कर्मसे सहमत नहीं हैं तो भी उससे वैरभाव क्यों मान लें ? यदि किसीकी दुष्टताका हिंसासे भी सामना करना पड़े तो भी क्रोध और घृणाका परित्याग कर तथा कर्तव्यभावना-से प्रेरित होकर ऐसा करें । वीरता अपनाकर भी क्षमाभाव रक्खें । क्षमा वीरका शृङ्गार है । समाजमें अन्याय एवं अत्याचार-का सामना करते हुए, सद्भाव एवं निःस्वार्थ सेवाभावसे ओतप्रोत होकर, धराको स्वर्ग बनानेका प्रयत्न करें और असीम सुख एवं शान्तिका लाभ प्राप्त करें ।

व्यक्तिगत बातोंमें सहनशीलता, क्षमाभाव अपनाकर कर्तव्य पालन करते रहनेका उपदेश सभी महापुरुषोंने किया है । अब्राहम लिंकनने कहा था, 'यदि मैं दूसरोंके द्वारा की हुई अपनी कटु आलोचना जानने और उनका उत्तर देनेका प्रयत्न करूँ तो मैं अपने कर्तव्य-मार्गसे ही दूर हट जाऊँगा । मैं अपनी ओरसे श्रेष्ठ आचरण करता हूँ और अन्ततक ऐसा ही करता रहूँगा । यदि मैं अन्तमें अच्छा सिद्ध हुआ तो मेरी आलोचना निष्फल हो जायगी । यदि मैं अच्छा सिद्ध न हुआ तो फरिश्ते भी मेरी अच्छाई सिद्ध न कर सकेंगे ।' लिंकनने यह भी कहा था—'किसीसे व्यक्तिगत झगड़ा न करो । जो व्यक्ति महान् कार्य करनेके लिये कृतनिश्चय है, उसे व्यक्तिगत झगड़ोंके लिये अवकाश ही कहाँ है ? काटनेवाले कुत्तेको राह दे दो, उससे झगड़ा मोल लेकर काटे जानेसे क्या लाभ ?' वास्तवमें समाजको प्रभुका ही विराट् रूप माननेवाला महानुभाव व्यक्ति भय एवं घृणाको छोड़कर, प्रेमसिक्त होकर श्रेष्ठ आचरणके द्वारा स्वान्तःसुखके अर्जनसे अपनेको धन्य मानता है । यदि किसी युक्तिसे प्रचुरतम धन, पद एवं यश पानेपर भी मानसिक शान्ति, चैन, नींद लुप्त हो जायँ तो समस्त भौतिक उपलब्धि

तुच्छ ही नहीं, वरं विषाक्त एवं घृणित प्रतीत होगी। विवेकशील व्यक्ति बाह्य जगत्‌की उपलब्धियोंसे चकाचौंध नहीं होता है, न उनसे आकृष्ट अथवा प्रलुब्ध होता है। वह अपने आन्तरिक विचार-जगत्, आन्तरिक जीवनका महत्त्व समझकर स्वस्थ चिन्तन, वाणी एवं शरीरके द्वारा सत्कर्मके सम्पादनसे स्वान्तःसुखकी निधि पाकर कृतकृत्य हो जाता है।

प्राणोंकी पुकार

[कहानी]

(लेखक—श्रीरामजी शर्मा 'राम')

मनुष्यके मनमें कब, किस इच्छाका उदय हो, जीवन-रथ चलते-चलते किस मोड़पर मुड़ जाय, इसका कोई निश्चित प्रमाण नहीं। अतुल बाबू ऐसे ही एक व्यक्ति थे। कुछ समयसे उनके मनमें मानवके उस शाश्वत धर्मको स्वीकार करनेकी महत्त्वाकाङ्क्षा जाग्रत् हुई कि जिसके प्रति न उनका कभी झुकाव था, न चिन्तन। परंतु अब वही धर्म उन्हें मान्य था। मनमें बार-बार हिलोर उठती, उस अवस्थामें जीवनकी दीप-शिखा भी प्रज्वलित होती और वह उनका इच्छित धर्म था—'अहिंसा'। संयोगसे उन्हें बौद्ध-भिक्षुओंका सहयोग भी प्राप्त हो गया। उनसे प्रेरणा मिली और दिन-दिन ऐसे भिक्षुओंसे सम्पर्क भी बढ़ता गया। भगवान् बुद्धद्वारा प्रचारित 'बुद्धं शरणं गच्छामि' मानो उनके मानसमें तरल भावनाका विकास करनेमें समर्थ हुआ। कोटि-कोटि कण्ठोंसे उच्चारित उस महामन्त्रने अतुल बाबूको ऐसा आकर्षित किया, उनके मनमें इस प्रकारकी प्रेरणा प्रदान की कि उन्हें अपना जीवन, पत्नी, बच्चे सभी बेकार लगने लगे। फलस्वरूप, वे अपने दैनिक काम तो करते, परंतु उनसे ऐसे उदासीन बने, जैसे वे सभी बेकार थे। स्वयं उनका जीवन उदास पड़ गया, जैसे कोई ठंडी लाश।

कदाचित् यही देखकर कि पति उदास रहते हैं, बौद्ध-भिक्षुओंमें आते-जाते हैं, घरपर आकर भी उन्हींकी चर्चा करते हैं, पत्नी सुनयनाने एक दिन टंकोर कर कहा—'क्या बात है? कुछ मनमें आया है क्या?' वह बोली—'देखती हूँ, तुम बुद्ध भगवान्‌की प्रतिमा भी घर ले आये हो, इसकी पूजा करते हो। तो क्या, हिंदू धर्मको छोड़कर बौद्ध बनना सोचा है? मनमें यह हो, तो तुम स्वतन्त्र हो, मैं तुम्हारे मार्गमें बाधक नहीं बनूँगी।'

सुनयनासे इतनी बात सुनी, तो अतुल बाबू सचमुच ही चञ्चल बन गये। मानो सुनयनाने स्वयं ही उन्हें सहारा दिया और उनका अवरुद्ध पथ सरल और साफ कर दिया। तुरंत ही वे बोले—'हाँ, सुनयना! मैं अपना रूप बदलना चाहता हूँ। मैं महीनोंसे इस समस्यामें फँसा हूँ कि तुम हो, बच्चे हैं, इनका निर्वाह कैसे होगा? सचमुच, बौद्ध भिक्षुक बननेकी कल्पना करता हूँ।' उन्होंने कहा—'यह संसार माया है। यहाँ घुटन है, पीड़ा है। राग-द्वेष इस संसारके खूनमें मिला है।'

सुनयनाने इतनी बात सुनी, तो वह सहज भावसे मुसकरा दी—'तो, तुम इस जीवन-क्षेत्रसे भागना चाहते हो? सुनती हूँ, भिक्षुक भीख माँगते हैं और अपना निर्वाह करते हैं।' वह बोली—'मेरी चिन्ता मत करो। बच्चोंकी बात भी छोड़ो। लेकिन, इतना सुन लो, यह कायरता है। जीवनसे भागनेवालेको कोई शुभ नहीं मानता।'

लेकिन अतुल बाबूने सुनयनाकी बातपर ध्यान नहीं दिया। उन्होंने कहा—'सुनयना! मेरे पास इतने रुपये हैं, जायदाद है, फिर भी मुझे शान्ति नहीं। मानव अपनी शक्ति और प्रतिभाका सही उपयोग नहीं करता, यही तो भगवान् बुद्धने बताया था।'

सुनयना खिन्न भावसे हँसी—'यह बात साधारण मनुष्य भी कह सकता है। इसे प्रत्येक व्यक्ति जानता है। परंतु यह जीवन—यह जीवन-संसार—माया है। यहाँ इसी प्रकारका व्यापार चलता है। इसीमें मनुष्य सुख पाता है।' वह बोली—'तुम्हारा इस समाजमें भी सम्मान है। लोग तुमको भला व्यक्ति समझते हैं। क्या यहाँ सेवाका क्षेत्र नहीं? यह संसार दुखियोंसे भरा है। तुमने जब भी किसीको पैसा दिया, तो क्या मैंने हाथ रोका?'

अतुल बाबूने पत्नीकी बात सुनी, तो बरबस सिर

झुका दिया। उन्होंने स्वीकार किया—'मेरी भावनाको तुमने दबाया नहीं, बढ़ावा दिया।'

और उस नगरमें एक प्रकारके लोग तो थे नहीं, वहाँ सभी प्रकारका मिश्रण था। राग-द्वेष, मान-अपमान, पाप और पुण्य, प्रेम और शत्रुता—मानो एक साथ ही चलती और चली जाती। कभी कोई ऐसा भी विवाद खड़ा होता कि अतुल बाबूके महलपर लोग आते और उनका निर्णय चाहते। यह सत्य था कि उनका व्यक्तित्व निर्विवाद रूपसे सर्वत्र स्वीकार किया जाता था।

जब-तब समाजमें बात चलती, अतुल बाबू लोगोंके मध्य होते, तो वे कहते—'भाई! जीवन क्षणिक है। ईर्ष्या और द्वेष हमारे शत्रु हैं। रोष करनेमें हमारा ही अहित है। हिंसा पाप है।' वह बताते कि 'मनुष्य स्वयं अपना शत्रु है। यह मानव जिस पवित्र भावनापर टिका है, उसे कोई स्वीकार नहीं करता। मनुष्यका इससे बड़ा और कौन-सा दुर्भाग्य हो सकता है?'

× × ×

लेकिन अतुल बाबू समाजसे भले ही कुछ कहते हों, उसे सुपथपर लानेकी चेष्टा करते हों, परंतु स्वयं अपने घरमें उन्होंने बैठे-बिठाये विवाद खड़ा कर दिया था।

एक दिन पुत्रने कहा—'पिताजी! मैं बौद्ध-भिक्षुओंकी स्थिति जानता हूँ। जब मैं एम्० ए०में पढ़ता था, तो कुछ साथियोंके साथ भूटान जा पहुँचा था। मुझे तो लगा वहाँके भिक्षुओंको भी शान्ति नहीं। जीवनका चरम लक्ष्य उनके द्वारा भी सम्पादित नहीं होता।' वह बोला—'ये धर्म, ये सम्प्रदाय लेना जानते हैं, देते कुछ नहीं। जो कुछ है, वह इस समाजकी आत्मा है, इसीकी पीड़ामें छुपा है। कहिये, आपने कभी उस करुणाका अनुभव किया? अध्यात्मवादी कुछ शब्दोंकी कल्पना करना और है और उन्हें व्यवहारमें लाना और।'

अतुल बाबूने पुत्रकी बात सुनी तो चुप रह गये। वे यह समझते थे कि उनका पुत्र अब बच्चा नहीं। उसने दर्शनमें एम्० ए० किया था। अतएव उसकी बातका प्रतिवाद करनेमें वे एकाएक समर्थ नहीं बने।

किंतु समाजमें जिस प्रकारका ताण्डव हो रहा था, उससे बरबस ही अतुल बाबूका मन आगमें घीकी तरह जल रहा था। उन्हीं दिनों उन्होंने पुत्रीका विवाह किया।

वह लड़का बैरिस्टरी पढ़ रहा था। अतएव उसके अनुरूप ही दहेज दिया गया। किंतु आश्चर्य, लड़के और उसके पिताको वह भी पसंद नहीं आया। लड़केको मोटर नहीं मिली, इसलिये वह शिकायत ही करता रहा।

लेकिन अतुल बाबू तो सुनयनासे परेशान थे। वह आये दिन घरके खर्च बढ़ाती जा रही थी और किसानोंसे पैसा नहीं आ रहा था। उस क्षेत्रमें सूखा पड़ा तो किसानोंके समक्ष रोटीका प्रश्न आ गया। उस अवस्थामें सुनयना कहती—'तुमने जमींदारी तो सँभाल ली, परंतु उससे कैसे कमाया जाता है, यह नहीं सीखा। देखते हो, तुम्हारा कुटुम्ब बड़ा है। कलको लड़केका विवाह करना है, बहूके लिये जेवर भी बनने हैं और तुम सब बातोंसे रास्ता काटते हो। जब ऐसे ही बनना था, तो अपना विवाह नहीं करना था। योगी बननेकी साध पैदा हुई, तो अकेले रहना था।'

जमींदारीका काम देखनेवाला कारिंदा बार-बार मालिकसे कहता—'सरकार! सीधी उँगलीसे घी नहीं निकलता, किसानोंपर मार पड़े, उनके घर-बैल कुर्क हों, तभी रुपया वसूल हो सकेगा।'

किंतु अतुल बाबू सहमत नहीं हुए। वे बातको टाल गये। उन्होंने अपने सभी किसानोंको एक निश्चित दिन अपने घर बुलाया। जब वे आये, तो अतुल बाबू उनकी अवस्था देखकर एकाएक सहम गये। सभी सूखे हुए। वे किसान अपने स्त्री-बच्चोंसहित वहाँ आये थे। उन सभीको देखकर अतुल बाबूका मन चीख उठा—'ये सभी त्रस्त हैं, ये दुखी हैं और भूखे हैं।'

और यह अनुभव करते ही, उन्होंने मुंशीसे कहकर सभी किसानोंको दो-दो मासके खानेका रुपया दिलवा दिया। उन्होंने किसानोंको हाथ जोड़े और विदा कर दिया।

लेकिन जब वे घरमें गये, तो देखते ही सुनयना बोली—'तुम्हें हुआ क्या है? क्या घरका सत्यानाश करना है? किसानोंको बुलाया था रुपया पानेके लिये और उल्टा घरसे दे दिया। हे राम!'

उस समय अतुल बाबू मौन थे। वे पत्नीके समक्ष भी जैसे अपराधी बन चुके थे।

× × ×

फलस्वरूप एक वर्षसे ऊपर हो गया था कि अतुल बाबू एक दिन चुपचाप ही घरसे निकले, तो फिर दिखायी नहीं दिये। पुत्रने अनेक स्थानोंपर खोजा, मित्र भी गये, पर वे नहीं मिले, नहीं मिल सके।

लेकिन जब दूसरा और तीसरा वर्ष भी लग गया, पुत्रका विवाह हुआ और वह एक पुत्रका पिता बन गया, तो तभी, एक दिन प्रातः घरके नौकरने मालकिनसे कहा—'एक साधु आये हैं, भिक्षा माँग रहे हैं।'

सुनयना तब वृद्ध हो गयी थी। किंतु उसने नौकरकी बात सुनी, तो जैसे उसकी छातीमें बरबस ही चिंहुक पैदा हुई। वह पतिकी चिन्तामें घुल चुकी थी। यद्यपि उस घरपर भिखारी नित्य ही आते, परंतु जब उस भिखारीकी बात सुनी, तो सुनयना पुत्र और पुत्र-वधूसहित स्वयं भी द्वारकी ओर उठ चली। द्वारपर जाते ही, उसने साधुको देखा, तो एकाएक उसके चरणोंमें पछाड़ खाकर गिरती हुई चीख पड़ी—'मेरे नाथ!'

किंतु साधुने धीर और गम्भीर स्वरमें उद्घोष किया—'देवि! बुद्धं शरणं गच्छामि।'

पुत्र और पुत्र-वधूने भी साधुके चरण छू लिये, किंतु वे भिक्षाका पात्र आगे बढ़ाकर भी लौट पड़े। वे चले गये। स्पष्ट था, वे और कोई नहीं, स्वयं उस घरके मालिक जागीरदार अतुलकुमार मजूमदार थे।

वृष्टि एवं वृष्टिरोधके शास्त्रीय उपाय

(लेखक—श्रीसोमचैतन्यजी श्रीवास्तव, एम्० ए०, एम्० ओ० एल्०)

वर्षा सृष्टिका जीवन है। वृष्टिके अभावमें पृथ्वी, वनस्पति एवं वातावरणमें शुष्कता आ जाती है, तब अन्न-जलकी कठिनाईके अतिरिक्त अन्य अनेक व्याधियों एवं उपद्रवोंका भी आगमन हो जाता है। जगत्‌की माङ्गलिक स्थिति भगवत्कृपा एवं देवानुग्रहपर निर्भर है। प्रजा जब स्वेच्छाचारिणी होकर देव-धर्म-भगवद्विमुख हो जाती है, तब उसे नाना प्रकारकी विपत्तियोंका सामना करना पड़ता है। हमारे शास्त्रकारोंने सृष्टिके कल्याणकी भावनासे सभी बाधाओंको दूर करनेके उपाय लिखे हैं। आवश्यकता है—श्रद्धा एवं विधिपूर्वक उन उपायोंका अनुष्ठान करनेकी।

अतिवृष्टि और अनावृष्टि—इन दोनोंसे ही हमारे देशका कोई-न-कोई भाग ग्रस्त रहता है। कभी बिहार, कभी उत्तर प्रदेश, कभी राजस्थान, कभी गुजरात और कभी आन्ध्रसे अकालकी अथवा अतिवृष्टिसे भीषण हानिकी खबरें मिलती रहती हैं। देशकी प्रजा इस कष्टसे मुक्त हो, इसी भावनासे ये शास्त्रीय उपाय प्रकाशित किये जा रहे हैं।

यह ध्यान रखना चाहिये कि जप या होमके करनेवाले व्यक्ति अत्यन्त सात्त्विक प्रकृतिके, निर्लोभ एवं परोपकारी होने चाहिये। कर्मकी सफलता कर्तापर निर्भर है। बृहत्पराशर-स्मृतिका वचन है—

> षट्कर्मनिरताः शान्ता ये न दग्धाः प्रतिग्रहैः॥
> नियोज्यास्तेऽग्निकार्यादौ स्फुरन्मन्त्रा द्विजोत्तमाः।
> प्रतिग्रहाग्निदग्धस्य जपहोमादिकुर्वतः॥
> यस्य मन्त्राण्यवीर्याणि तत्कृतं कर्म निष्फलम्।
> (अ० ११। ७३-७५)

'स्वाध्याय, जप, होमादि विप्र-कर्ममें लगे हुए, शान्त, जितेन्द्रिय, दान न लेनेवाले, मन्त्र-चैतन्यकी शक्तिसे युक्त ब्राह्मणोंद्वारा कराया गया या किया गया जप-होमादि कर्म ही सफल होता है।'

ऋषि शौनकका वचन है कि 'सप्तमहाव्याहृतिपूर्वक गायत्रीके पुरश्चरणके बिना वैदिक मन्त्र चैतन्य नहीं होते।'

अतः इन विधियोंका अनुष्ठान करनेवाले पहले अपनेमें पात्रता स्थापित करें। इनके अनुष्ठानके पूर्व विधिपूर्वक गायत्रीका एक लाख जप एवं होम कर लिया जाय तो सबसे अच्छा है। यदि ऐसा न हो सके तो वृष्टि-प्रयोगके पूर्व एक सप्ताह पूर्ण ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए, केवल हविष्य-अन्नका भोजन एवं पृथिवीपर शयन करते हुए—'ॐ नमः शिवाय', 'ॐ नमो नारायणाय', 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' या अन्य किसी भी अपने इष्टदेवके मन्त्रका एक लाख जप कर लेना चाहिये। तभी मन्त्रानुष्ठानसे अभीष्ट लाभ होगा।

यज्ञद्वारा वृष्टि होती है, इसके शास्त्रीय प्रमाण भी हैं एवं आजकलके अनुभवसिद्ध उदाहरण भी। मनुस्मृति

(३ । ७६) तथा भगवद्गीता (३ । १४) में होमसे वृष्टि होनेका वर्णन है। निरुक्तमें ऐसा वर्णन मिलता है कि ऋग्वेद (१० । ९८ । ५) का सूक्त 'वर्ष-काम-सूक्त' है। जब शन्तनुके राज्यमें बारह वर्षतक वर्षा न हुई; तब वे अपने बड़े भाई महातपस्वी देवापिके पास गये। देवापि वृष्टि-विद्याके ज्ञाता थे। उन्होंने वृष्टि-यज्ञके द्वारा देवोंकी कल्याणी बुद्धिको शस्य-सम्पत्करी वृष्टिके लिये प्रेरित किया। इस प्रकार उस वृष्टि-यज्ञके द्वारा पृथ्वीपर अन्तरिक्षसे उत्तम, दिव्य वर्षा हुई। (निरुक्त २ । ३) महाभारत (अनु० १४ । ९३–९४) में ऐसा वर्णन आता है कि भगवान् महादेवके कुपित हो जानेपर पृथिवीमें जल नष्ट हो गया। तब देवोंने सप्तकपाल यज्ञके द्वारा भगवान् त्र्यम्बकको प्रसन्न कर भूमिपर पुनः जल प्राप्त किया था। कौटिल्य अर्थशास्त्र (४ । ३) में अवर्षणको दूर करनेके लिये गङ्गा एवं पर्वतकी पूजाका वर्णन है। अस्तु।

अब नीचे वर्षा न होनेपर तत्काल वृष्टि करवानेके प्रयोग दिये जा रहे हैं—

'अग्निपुराण' (ऋग्विधान) का कथन है कि वृष्टि चाहनेवाला निराहार रहकर स्नानके बाद गीले वस्त्र धारण किये हुए ही 'अच्छावद०' (ऋक्० ५ । ८३) सूक्तका जाप करे। वृष्टि शीघ्र होगी। इसी भाँति वृष्टिकामी पुरुष 'बृहस्पते अति०' (यजु० २६ । ३, काण्व सं० २८ । ४) का भी प्रयोग कर सकता है। 'अपां गर्भम्०' (ऋक्० ३ । १ । १३) की आहुति देनेसे अवश्य वर्षा होती है। 'अपः पिन्वौषधी०' (यजु० १४ । ८) इस मन्त्रकी दधि, घृत एवं मधुकी आहुति देनेसे तत्काल महावर्षा होती है।

अथर्ववेदका ४ । १५ सूक्त भी वृष्टिसूक्त है। इनके अतिरिक्त अथर्व० ११ । ४-५, ऋक्० ४ । ५७ । ८ तथा यजुर्वेदके ३६ । १०; १४ । ८; १८ । ९, १२ के मन्त्र भी वृष्टियज्ञमें उपयोगी हैं।

'देवीभागवतपुराण' (११ । २४ । ५७–५८) के अनुसार बेंतके पत्तोंको या फूलको दूधमें भिगोकर गायत्री-मन्त्रकी आहुति देनेसे एक सप्ताहमें वर्षा हो जाती है। गायत्रीकी सौ आहुति केवल खीरकी देनेसे ही एक सप्ताहमें वर्षा हो जाती है।

कात्यायनी-तन्त्रके अनुसार—महाँ२॥ इन्द्रो य ओजसा पर्जन्यो वृष्टिमाँ२॥ इवस्तोमैर्वत्सस्य वावृधे।' उपयाम-गृहीतोऽसि महेन्द्राय त्वैष ते योनिर्महेन्द्राय त्वा।

(यजु० ७ । ४०)

यह याजुष मन्त्र वृष्टिप्रद है।

गौरीतन्त्रके अनुसार—''वञ्चिताभ्याम्।''—यह दुर्गा-सप्तशतीका अर्द्धमन्त्र जलप्रद है।

बृहत्पराशरस्मृतिका वचन (११ । १७७–७८) है कि ''पानीमें खड़ा होकर 'नमः शंभवायः च' इस याजुष मन्त्रका सौ बार जप करनेसे तत्काल वर्षा होती है। यदि विप्र नाभिमात्र जलमें प्रविष्ट होकर इस मन्त्रसे जलकी आहुति दे तो मन्त्र-माहात्म्यसे धरतीको समुद्र बना दे सकता है।'

श्रीमुकुन्दवल्लभ मिश्रजीने 'कर्मठ गुरु' (६९ पृष्ठ) में वृष्टिके लिये वसिष्ठ-कल्पोंका निम्नलिखित विधान दिया है—

''वृष्टिकाम पुरुष अर्घ्य-पाद्यादिसे भगवान् त्र्यम्बकका पूजन कर 'आपो हि ष्ठा' इत्यादि तीन मन्त्र, हिरण्यवर्णा०—आदि ऋचाएँ, पवमानसूक्त एवं त्र्यम्बक मन्त्रसे शिवलिङ्गका अभिषेक करे। वह दूधमें भिगोई हुई बेतस् (बेंत) की समिधाओंसे या केवल दूधसे 'त्र्यम्बकं यजामहे' मन्त्रसे एक हजार या दस हजार आहुति दे। होमके अनन्तर पुण्याहवाचन करवाकर ब्राह्मणोंको भोजन करवाये (एवं दक्षिणा भी दे)। ऐसा करनेसे निस्संदेह दस दिनके अंदर वर्षा हो जायगी।''

अथवा वृष्टिकाम पुरुष पीला वस्त्र धारणकर वटवृक्षकी समिधाओंसे त्र्यम्बक मन्त्रसे होम करे तो तत्काल वर्षा हो जाय।

यदि वृष्टिकाम नाभिपर्यन्त जलमें खड़ा होकर भगवान् मृत्युञ्जय त्र्यम्बक शिवका ध्यान करते हुए 'त्र्यम्बक-मन्त्र' का जप करे तो महती वृष्टि होगी।

सोमशम्भुकी 'कर्मकाण्ड-क्रमावली' (६७६–८०) का कथन है कि वृष्टिके लिये निम्नाङ्कित प्रयोग करे—

''जलमें ग्रहोंसहित वरुणदेवका पूजन करके वारुण अथवा गुह्यक मन्त्रोंसे तिलोंकी आहुति दे। तिलके इस होमसे

मनुष्य आकाशमें ऐसे मेघोंको स्थापित कर सकता है, जो सम्पूर्ण दिगन्तों तथा पृथ्वीको वर्षाके जलसे आप्लावित करनेमें समर्थ हों। फिर शीघ्र ही पाशुपत मन्त्रसे उन मेघोंको वर्षाके लिये विदीर्ण कर दे। मन्त्र इस प्रकार है—ॐ श्लीं पशु हूँ फट् मेघान् स्फुटीक्रियताम् हूँ फट्"

श्री पं० लक्ष्मीनारायण गोस्वामीने 'दुर्गार्चनसृति' में किसी तन्त्रके प्रमाणके आधारपर लिखा है कि "देवीकवच-के मन्त्र 'देवीभक्तजनोद्दामदत्तानन्दोदयेऽम्बिके' का जप करनेसे अनावृष्टि दूर होगी।"

बृहत्पराशरस्मृति (११ । २४१-२६२) के अनुसार 'लक्षहोमसे राष्ट्रके सभी उपद्रवोंकी शान्ति होती है एवं समयपर वर्षा होती है।'

'कल्याण'के किसी अङ्कमें किसी अनुभवीने यह लिखा था कि 'असौ०' (यजु० १६ । ६-७)—इन दोनों मन्त्रोंसे सत्तू और जलका ही सेवन करता हुआ गुड़ और दूधमें बेंतकी समिधाओंको भिगोकर हवन करे तो वर्षा होती है।

वृष्टिके ये प्रयोग न तो अति परिश्रमसाध्य हैं और न बहुव्ययसाध्य। बेंत या वटवृक्षकी समिधाओंसे तिल, खीर या दूध-घीकी यथोक्त मन्त्रोंसे एक हजार या दस हजार आहुति देनेसे वृष्टि हो जाती है। यदि यह भी न हो सके तो नाभिमात्र जलमें खड़ा होकर शुद्ध, एकाग्रचित्तसे मन्त्रोक्त देवताका ध्यान कर छन्द, देवता, ऋषि एवं विनियोगपूर्वक अभीष्ट मन्त्र (गायत्री या त्र्यम्बक या नमः शिवाय) का सौ बार जाप करनेसे वृष्टि हो जाती है। जाप सामूहिक भी हो सकता है या एक या अनेक व्यक्तियोंद्वारा भी, फलप्राप्ति-पर्यन्त। अनुष्ठानकालसे तथा अनुष्ठानकालमें मनसा-वाचा-कर्मणा अत्यन्त पवित्र रहना बहुत आवश्यक है। असत्यभाषण, लोभ, हिंसा, कामवासना, चोरी आदिसे दूर रहकर निरन्तर मन्त्र-देवताका चिन्तन, जप एवं वृष्टि होनेका ध्यान होना चाहिये।

अब नीचे मेघस्तम्भन एवं वृष्टिरोधके कुछ उपाय लिखे जाते हैं—

'दत्तात्रेय-तन्त्र'के चतुर्थ पटलमें मेघस्तम्भनका यह प्रयोग मिलता है—

(१) दो हाँड़ी लेकर उनमें श्मशानका अङ्गार भर दे और दोनों हाँड़ियोंका मुँह मिलाकर उनको वनमें गाड़ देनेसे मेघका स्तम्भन हो जाता है।

(२) एक ईंटपर श्मशानके भस्मसे 'मेघ' लिखे और दूसरी ईंटसे उस ईंटका सम्पुट बनाकर उसको भूमिमें गाड़ दे तो मेघका स्तम्भन हो जाय, अर्थात् पानी न बरसे।

किसी तन्त्र ग्रन्थमें मैंने पढ़ा था कि नमक और दूधकी आहुति देनेसे वर्षा बंद हो जाती है।

'वसिष्ठ-कल्प'में कहा है कि 'अग्निहोत्रकी सफेद भस्म लेकर उसकी त्र्यम्बक मन्त्रसे एक सौ आहुति जलमें देनेसे वर्षा बंद हो जाती है।'

'देवीभागवतपुराण' (११ । २४ । ५८) का वचन है कि 'जलमें गायत्रीसे भस्मकी एक सौ आहुति देनेसे महावृष्टि भी तत्काल बंद हो जाती है।' (यह अनुभूत भी है)।

'कात्यायनी-तन्त्र'के अनुसार यजु० ६ । २१ का निम्न-लिखित मन्त्र जपनेसे अतिवृष्टि शान्त हो जाती है—

ॐ समुद्रं गच्छ स्वाहाऽन्तरिक्षं गच्छ स्वाहा। देवꣳ सवितारं गच्छ स्वाहा। मित्रावरुणौ गच्छ स्वाहाऽहोरात्रे गच्छ स्वाहा। छन्दाꣳसि गच्छ स्वाहा। द्यावापृथिवी गच्छ स्वाहा। यज्ञं गच्छ स्वाहा। सोमं गच्छ स्वाहा। दिव्यं नभो गच्छ स्वाहाऽग्निं वैश्वानरं गच्छ स्वाहा। मनो मे हार्दि यच्छ दिवं ते धूमो गच्छतु स्वर्ज्योतिः पृथिवीं भस्मनाऽऽपृण स्वाहा॥

आशा है, 'कल्याण'के पाठक राष्ट्रके किसी भागमें वृष्टिरोध या अतिवृष्टिका उपद्रव होनेपर इनमेंसे किसी भी प्रयोगका अनुष्ठान कर लाभ उठायेंगे एवं अपने अनुभवसे 'कल्याण'के पाठकोंको सूचित करेंगे। भगवदिच्छासे अन्य विषयोंपर भी शास्त्रीय मन्त्रप्रयोगके अनुष्ठान प्रकाशित किये जा सकते हैं।

वर्णाश्रमकी ऐतिहासिकता

(लेखक—डॉ० श्रीनीरजाकान्त चौधुरी, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

[गताङ्कसे आगे]

(१) भामहने 'काव्यालङ्कार' ग्रन्थमें लिखा है—

'हतोऽनेन मम भ्राता मम पुत्रः पिता मम।' (४। ४०। ४१)

यह वाक्य 'प्रतिज्ञा' नाटकके प्रथम अङ्के—

'अणेण मम भादा हदो, अणेण मम पिदा, अणेण मम सुदो'—दो ही लिया हुआ जान पड़ता है।

भामहने इस स्थलपर न्याय-विरोधके उदाहरणस्वरूप 'प्रतिज्ञा-यौगन्धरायण' के प्रथम अङ्कमें चर्म-निर्मित छद्महस्ती ग्रहणके समय मालव-राजमन्त्री शालङ्कायनद्वारा वत्सराजके पराजित और बंदी होनेके विषयमें सम्पूर्ण कहानीके विरुद्ध समालोचना की है। नाटकका नाम नहीं है। कारण, मालूम होता है, 'प्रतिज्ञा' एक सुपरिचित नाटक था। म० म० गणपति शास्त्रीके मतमें भामह कालिदासके पूर्ववर्ती हैं।

(प्रतिज्ञा-यौगन्धरायण, भूमिका (१-३ पृष्ठ) गणपति शास्त्री, द्रष्टव्य)

भामहने एक और श्लोकमें भी 'प्रतिज्ञा' नाटकका उल्लेख किया है—

आहरिष्याम्यमुमद्य महासेनात्मजामिति । कृत्वा प्रतिज्ञां वत्से न हृतेति मदनाश्रया ॥ (काव्यालङ्कार ५। ३८)

(२) प्रसिद्ध बौद्ध कवि—नाट्यकार अश्वघोषने (प्रथम शताब्दी) बुद्धचरितमें 'प्रतिज्ञा' नाटकके एक श्लोकका अनुकरण किया है—

काष्ठादग्निर्जायते मथ्यमानाद् भूमिस्तोयं खन्यमाना ददाति । सोत्साहानां नास्त्यसाध्यं नराणां मार्गारब्धाः सर्वयत्नाः फलन्ति ॥	काष्ठं हि मन्थन् लभते हुताशं भूमिं खनन्विन्दति चापि तोयम् । निर्बन्धिनः किंचन नास्त्यसाध्यं न्यायेन युक्तं च कृतं च सर्वम् ॥
(प्रतिज्ञा० १। १८)	(बुद्ध० ३। ६०)

यदि कोई कहें कि यहाँ भासने ही अश्वघोषसे भाव और भाषाका ग्रहण किया है, तो वैसा कहना भूल होगी। हम अन्यत्र प्रमाणित कर चुके हैं कि अश्वघोष कालिदासके निकट ऋणी हैं। भास कालिदासके पूर्ववर्ती हैं, यह निःसंदेह है।

(३) भासके नाटकके बहुत-से श्लोक जनप्रिय थे और कालान्तरमें वे प्रवादवाक्यों* में परिणत हो गये। स्वयं महामति कौटिल्यने अपने विश्वविख्यात ग्रन्थ 'अर्थशास्त्र' में 'प्रतिज्ञा' नाटकसे एक श्लोक ग्रहण करनेमें किसी प्रकार हिचकका अनुभव नहीं किया—

अपीह श्लोकौ भवतः—

नवं शरावं सलिलैः सुपूर्णं
सुसंस्कृतं दर्भकृतोत्तरीयम् ॥
तत्तस्य माभून्नरकं स गच्छेद्
यो भर्तृपिण्डस्य कृते न युध्येद् ॥

इति मन्त्रिपुरोहिताभ्यामुत्साहयेद् योधान् ।

(अर्थ। १०। ३)

यह श्लोक एक चरम नाटकीय मुहूर्तका है। 'अपीह श्लोकौ भवतः' इस वाक्यसे संदेहरहित रूपमें प्रमाणित होता है कि यह श्लोक कौटिल्यकी अपनी रचना नहीं है। इसे उन्होंने किसी प्रसिद्ध काव्यसे लिया है।

सुतरां, भासका काल चाणक्य (३२० ईसापूर्व) के पूर्व सिद्ध होता है।

(४) वामनने 'काव्यालङ्कार'में—(५। २) पूर्वोक्त श्लोकसे 'यो भर्तृपिण्डस्य कृते न युध्येत्'—यह पद उद्धृत

---

* लड़कपनमें, 'यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोषः।' प्रवादवाक्य सुनते थे। यह 'अविमारक' में (४। १२) पाया गया है।

(अधि० २) किया है। यह मूलतः अर्थ-शास्त्रका होता तो वे काव्यदर्शनमें इसका कभी उल्लेख नहीं करते।

(५) शंकरार्यने कामन्दकीय 'नीतिसार'की 'जयमङ्गला' टीका (२० । २१) में अर्थशास्त्रसे 'अपीह श्लोकौ भवतः' और उसके परवर्ती दो श्लोकोंको उद्धृत किया है। 'नवं शरावं' श्लोक द्वितीय है। अतएव 'नवं शरावं' श्लोक दूसरे काव्यसे अर्थशास्त्रमें लिया गया है, इस विषयमें कोई संदेहकी गुंजाइश ही नहीं रह सकती।

(कामन्दक—'नीतिसार' त्रिवेन्द्रम् संस्करण, ३०० पृष्ठ)

ऊपरकी आलोचनासे यही निष्कर्ष निकलता है कि 'प्रतिज्ञा' और 'स्वप्न' दोनों नाटकोंका लेखक एक ही है—और वे हैं—महाकवि भास।

भासका काल

(१) भारतीय इतिहास, प्राचीन साहित्य एवं ऐतिह्यकी दृष्टिसे 'नवं शरावं' श्लोकका गुरुत्व अतुलनीय और असाधारण है। कारण, इससे प्रमाणित होता है कि 'प्रतिज्ञा' नाटकके लेखक (भास) कौटिल्यके पूर्ववर्ती थे। पहले ही यह माना जा चुका है कि कौटिल्य मौर्यसम्राट् चन्द्रगुप्तके महामन्त्री चाणक्यका दूसरा नाम है। उनका काल सम्भवतः (आ०) ३६०—२९० (ईसापूर्व) है।

(२) भासके नाटकोंमें बौद्धमत और पाटलिपुत्र नगरका उल्लेख पाया जाता है, सुतरां वे बुद्धके परवर्ती हैं। अथ च—उनके समयमें शाक्य श्रमणक (बौद्ध भिक्षु) गणोंकी उतनी मान्यता नहीं थी, ऐसा प्रतीत होता है। सुतरां अशोकके बहुत पहले उनका अभ्युदय हुआ था।

(३) पहले कहा जा चुका है कि भास अश्वघोष (प्रथम ईस्वी शताब्दी) और कालिदास (प्रथम ईसापूर्व शताब्दी) के पूर्ववर्ती हैं। मेघदूतमें 'उदयनकथा' पायी जाती है।

(४) 'लु. वाख्यायिकाभ्यो बहुलम्' इस वार्त्तिककी व्याख्यामें महाभाष्यमें पतञ्जलिने वासवदत्ता आख्यायिकाका उल्लेख किया है (महाभाष्य २ । २२८ एवं ३१६ पृष्ठ)। सुतरां भास सम्भवतः द्वितीय ईसापूर्व शताब्दीके पूर्वकालमें हुए होंगे।

(सनत्सुजातीय अध्यात्मशास्त्र, गुरुपद हाल्दार, ६६४ पृष्ठपर द्रष्टव्य)

(५) भासके नाटकोंमें उस समयके समाजका जो चित्र पाया जाता है, उसमें वर्णाश्रम-व्यवस्था पूर्ण गौरवके साथ विद्यमान है, एवं किसी क्षत्रिय सम्राट्ने उन (भास) को सभासद् बना रक्खा था, ऐसा प्रतीत होता है। सम्भवतः भासने अपनी आँखोंसे अश्वमेध या उसी प्रकारका कोई विराट् यज्ञ देखा था; क्योंकि उन्होंने 'प्रतिमा' नाटकमें कहा है—

'सिंहमन्त्वगंतामपर्यज्ञार्थमिव संयतम्।' (२ । १०)

'पञ्चरात्र' नाटकमें भी विशाल यज्ञका वर्णन पाया जाता है।

अश्वमेध यज्ञमें क्षत्रिय सम्राट्का अधिकार

वैदिक साहित्यमें राजसूय और अश्वमेध यज्ञकी विधि-व्यवस्थाका सुप्रचुर वर्णन है। उससे जाना जाता है कि अश्वमेध यज्ञमें जो पशु निबद्ध किये जाते थे, इनके भीतर सिंह भी एक था। 'इन्द्राय सूकरः सिंहो मारुतः।' (शुक्ल यजुःसंहिता २४ । ४०)। मरुत् देवताके उद्देश्यसे सिंहको उत्सर्ग किया जाता था। अतएव यह अनुमान करना कठिन नहीं है कि भासने प्रत्यक्ष अश्वमेध यज्ञमें सिंहको देखकर पूर्वोक्त वाक्य लिखा होगा और सम्भवतः उनके प्रायः हर नाटकके भरतवाक्यमें जिस सार्वभौम नरपति 'राजसिंह'की प्रशस्ति है, वे ही इस अश्वमेधयज्ञके यजमान हुए होंगे।

'राजा राजसूयेन यजेत।' 'राज्ञोऽश्वमेधः सर्वकामस्य।'

(कात्यायन श्रौतसूत्र २० । ७)

—आदि वाक्योंसे जाना जाता है कि राजसूय, अश्वमेध आदि यज्ञोंमें केवल अभिषिक्त क्षत्रिय सार्वभौम नरेशका अधिकार है, दूसरे किसी वर्णका नहीं। वैश्य अथवा यहाँतक कि कोई ब्राह्मण यदि राजा हो, तो उनको इन दो यज्ञोंके करनेपर पुण्यलाभ तो होगा ही नहीं, उल्टे पाप ही लगेगा। शूद्रका वेद और वैदिक यज्ञमें अधिकार नहीं है, अतएव किसी भी शूद्रनरेशके लिये अश्वमेध यज्ञ तो क्या, किसी भी यज्ञके करनेकी बात नहीं उठ सकती।

'राजेत्येतानभिषिक्तानाचक्षते।'

(शतपथ ब्राह्मण १३ । ४ । १ । २)

'राज'शब्द 'अभिषिक्त क्षत्रिय'का वाची है। यही पूर्व-मीमांसाका भी मत है।

'राजग्रहणाच्च न ब्राह्मणवैश्ययोरयं यज्ञः।' तस्माच्छूद्रो यज्ञेऽनवकल्पः।' 'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे।'

(पाणिनि ४। १। ३३)

'सावित्रीं लक्ष्मीं यजुः प्रणवं यदि जानीयात् स्त्री शूद्रः स मृतोऽधो गच्छति। तस्मात्सर्वदा नाचष्टे यद्याचष्टे स आचार्यस्तेनैव मृतोऽधो गच्छति।'

(नृसिंहपूर्वतापनीय १। ३)

शंकराचार्य इस श्रुतिकी व्याख्यामें कहते हैं कि 'स्त्री और शूद्रका गायत्री, लक्ष्मीमन्त्र, यजुर्वेद एवं प्रणवमें अधिकार नहीं है। वे इनका उच्चारण करनेसे मृत्युके पश्चात् नरकगामी होते हैं। अतएव जिस किसी वर्णकी स्त्री और शूद्रके द्वारा सावित्री और प्रणवादिका पाठ सर्वथा निषिद्ध है। यदि कोई आचार्य अथवा गुरु स्त्री किंवा शूद्रको सावित्री प्रभृतिका पाठ कराते हैं तो वैसा होनेपर वे भी मरनेके बाद नरकभागी होते हैं।' इन सब प्रत्यवायोंके सुननेसे स्त्री-शूद्रादिके लिये प्रणव और वेदपाठ निषिद्ध जाना जाता है। सुतरां ब्राह्मण, वैश्य या शूद्र राजाके लिये अश्वमेध यज्ञ करना असम्भव है।

भास कौटिल्यके पूर्वकालीन हैं। शूद्र महापद्म नन्दने अनुमानतः ४२० ईसापूर्वमें उत्तरापथके सम्राट् होकर प्राचीन समस्त क्षत्रिय राजवंशोंका उच्छेद कर डाला था। अतएव 'राजसिंह' उनके पूर्व वर्तमान थे। हो सकता है कि वे घोसुण्डा लिपिमें उल्लिखित अश्वमेधयाजी क्षत्रियसम्राट् 'सर्वतात' हों। इस प्रकार निश्चय होता है कि भासका काल ४५० ईसापूर्वके बादका नहीं है। वे आर्यावर्तके अधिवासी थे, ऐसा प्रतीत होता है।

आधुनिक इतिहासमें अश्वमेधके इस वैशिष्ट्यका लक्ष्य नहीं रक्खा गया है। शुंग पुष्यमित्र, गुप्तसम्राट् समुद्रगुप्त, कुमारगुप्त और दूसरे भी जिन सब राजाओंके अश्वमेध करनेकी बात जानी जाती है, वे सब-के-सब क्षत्रिय थे, वह इससे सुस्पष्टरूपसे प्रमाणित होता है।

कौशाम्बीराज पाण्डव-वंशधर उदयन, उनके श्वशुर उज्जयिनीके अधिपति प्रद्योत एवं साले मगधराज दर्शक ऐतिहासिक पुरुष हैं। इनका काल सम्भवतः सप्तम शताब्दी (ईसापूर्व) है। बुद्धदेवका परिनिर्वाण आधुनिक मतानुसार अनुमानतः ४८० (ईसापूर्व) में हुआ था। भास अवश्य ही इन लोगोंके परवर्ती हैं।

अतएव प्रतीत होता है, भास अनुमानतः ५००-४२० (ईसापूर्व) कालमें विद्यमान थे। 'भासनाटकचक्र' पञ्चम शताब्दी (ईसापूर्व) के मध्यभागमें रचित हुआ होगा।

चारुदत्त

महाराज शूद्रक (प्रथम शताब्दी) द्वारा प्रणीत 'मृच्छकटिक' प्रसिद्ध नाटक है। इसने पाश्चात्त्य देशोंमें समादर प्राप्त किया है। किंतु भास-साहित्यके पुनराविष्कारके फलस्वरूप देखा जाता है कि 'मृच्छकटिक'का मूल 'चारुदत्त' (या 'दरिद्रचारुदत्त') है। यह नाटक असम्पूर्ण है। किंतु जो पाया जाता है, उसकी कथावस्तु और भाषा 'मृच्छकटिक'के साथ मिल जाती हैं। केवल भेद यही है कि 'मृच्छकटिक'का विषय और भी विस्तृत है। सुतरां 'चारुदत्त' 'मृच्छकटिक'की अनुकृति नहीं हो सकता।

चारुदत्तका उल्लेख भी * संस्कृत साहित्यमें विरल नहीं है।

(क) 'चारुदत्ते पुनः सूत्रधारस्यापि प्राकृतम्'

—शाकुन्तल-व्याख्या

(Indian Hist. Qrly 1929, P. 726 द्रष्टव्य।)

साधारणतः सूत्रधारगण संस्कृत भाषाका ही व्यवहार करते हैं। किंतु उपलब्ध चारुदत्तका वैशिष्ट्य यही है कि इसमें सूत्रधार प्राकृत भाषामें बात करता है।

(ख) दण्डीने 'काव्यादर्श' (२। २२६) में 'चारुदत्त' से निम्नाङ्कित श्लोक उद्धृत किया है। यह संस्कृत साहित्यमें सुप्रसिद्ध है—

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्निष्फलतां गता॥

(चारु० १। १९)

यह श्लोक 'बालचरित' नाटक (१। १५) में भी पाया जाता है। सुतरां बालचरित और चारुदत्त एक ही लेखककी रचना है, ऐसा प्रतीत होता है।

---

* भासनाटकचक्रम्—देवधर App. D. द्रष्टव्य।

(ग) जैसे 'चारुदत्त'—

शुष्कद्रुमगतो रौति आदित्याभिमुखं स्थितः ।
कथयत्यनिमित्तं मे वायसो ज्ञानपण्डितः ॥

(नाटकलक्षणकोश, पृ० ४१)

यह वर्तमान खण्डित 'चारुदत्त' में नहीं मिलता ।

(घ) वामनने 'काव्यालङ्कार' में (अधि ५ । २) 'चारुदत्त' से एक और उत्कृष्ट श्लोक उद्धृत किया है—

यासां बलिर्भवति मद्गृहदेहलीनां
हंसैश्च सारसगणैश्च विभक्तपुष्पः ।
तास्वेव पूर्वबलिरूढयवाङ्कुरासु
बीजाञ्जलिः पतति कीटमुखावलीढः ॥ (१ । २)

(ङ) अभिनवभारतीने 'भारतनाट्यवृत्ति' टीकामें 'दरिद्रचारुदत्त' का भी उल्लेख किया है ।

'अविमारक' नाटकका भी इसमें उल्लेख पाया जाता है—

'कुमारमविमारकं कुरङ्गीव'

(कौमुदीमहोत्सव २ । १५ एवं ५ । ९)

काव्यरसिक कभी समालोचना-ग्रन्थमें किसी साधारण कविकी रचनाको पुनः-पुनः स्थान नहीं दे सकते । अतएव ये सब दृश्यकाव्य अवश्य ही किसी महाकविकी रचना हैं, इसमें संदेह नहीं है । जहाँतक समझमें आता है, वे महाकवि भास ही हैं, अन्य कोई नहीं । स्वप्न, प्रतिज्ञा, अविमारक, चारुदत्त एवं बालचरितसे ये सब उद्धरण लिये गये हैं । अतएव ये सभी नाटक प्राचीन हैं और ये किसी अर्वाचीन कवि या नाट्यसम्प्रदाय (दाक्षिणात्यके चाकियार) द्वारा प्रणीत नहीं हो सकते ।

हम क्रमशः दिखलायेंगे कि उपलब्ध चौदहों नाटक 'स्वप्न' और 'प्रतिज्ञा' नाटकप्रणेता महाकवि भासद्वारा रचित हैं, ऐसा माननेके बहुत-से कारण हैं ।

(१) महाकवि बाणभट्ट 'हर्षचरित'में भासकी प्रशस्ति-वन्दनामें गाते हैं—

सूत्रधारकृतारम्भैर्नाटकैर्बहुभूमिकैः ।
सपताकैर्यशो लेभे भासो देवकुलैरिव ॥

अर्थात् 'भासने अपने सूत्रधारद्वारा आरब्ध, अनेक पात्र-पात्रियोंकी भूमिकासे संयुक्त नाटकोंके द्वारा उच्चावच पताकाशोभित बहुत विशिष्ट देवमन्दिरोंकी प्रतिष्ठाके समान यश प्राप्त किया है ।'

उपलब्ध सभी नाटकोंमें ये सब लक्षण मिल जाते हैं । भासके नाटकोंमें बहुत-से पात्र-पात्रियोंकी भूमिकाएँ हैं ।

दूसरे, भासके नाटकोंका यह वैशिष्ट्य है कि प्रायः प्रत्येकमें ही—

'नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः । स्थापना ।'

—इस वाक्यसे आरम्भ किया जाता है । उसके पश्चात् सूत्रधारकी उक्ति भी साधारणतः इसी प्रकार होती है—

'अये ! किं नु खलु मयि विज्ञापनव्यग्रे शब्द इति श्रूयते अङ्ग ! पश्यामि । एवं आर्यमिश्रान् विज्ञापयामि ।' 'भवतु विज्ञातम्' ।

(स्वप्न, पञ्चरात्र, मध्यम व्यायोग, दूतवाक्यम्, दूतघटोत्कच, कर्णभार, उरुभङ्ग तथा बालचरितमें ऐसा ही पाया जाता है ।)

—क्रमशः

राजाको सीख

एक राजाने किसी गाँवमें एक नया महल बनवाया । उस महलके बगलमें एक गरीब बुढ़ियाकी झोंपड़ी थी । उस झोंपड़ीका धुआँ राजाके महलमें जाता था । इसलिये राजाने बुढ़ियाके पास सिपाही भेजकर उसे आज्ञा दी कि वह अपनी झोंपड़ी वहाँसे हटा ले । बुढ़ियाने इन्कार कर दिया । सिपाहियोंने बहुत डाँटा-फटकारा, पर वह नहीं मानी । तब उसे राजाने बुलाकर पूछा कि—'तू झोंपड़ी क्यों नहीं हटाती ?' उसने कहा—'महाराजा ! मैं तो आपका इतना बड़ा आलीशान महल देख सकती हूँ, जरा भी नहीं जलती और आपकी आँखोंमें मेरी टूटी-फूटी फूसकी मढ़ैया भी खटकती है । यही क्या आपका न्याय है ?' राजा सुनकर लज्जित हो गया और बुढ़िया माईका सत्कार करके उसको विदा कर दिया ।

कामके पत्र

(१)

हाड़-मांसके पुतलेको भगवान्‌के आसनपर बैठाना पाप है

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण । आपके कई पत्र मिले, मैं समयपर उत्तर नहीं लिख सका; क्षमा करें । आपने जो कुछ लिखा, सो सत्य है । यह मानव-जातिका दुर्भाग्य है, जो आज जगह-जगह बहुत-से मानव-प्राणी भगवान्‌को उनके आसनसे खिसकाकर स्वयं भगवान्‌के आसनपर बैठना चाहते हैं और मिथ्या नाम-रूपवाले अस्थि-मांस, मल-मूत्रके पिण्ड अपवित्र शरीरकी पूजा करवाते हैं । ऐसे मनुष्य वास्तवमें अपना तथा जनताका बड़ा अहित करते हैं । मनुष्यके पास जो कुछ भी सम्पत्ति-शक्ति, विद्या-बुद्धि, पद-अधिकार, ऐश्वर्य-वैभव, सौन्दर्य-माधुर्य आदि हैं, सब भगवान्‌की वस्तु हैं, भगवान्‌की ओरसे ही उसे मिली हैं । इन सब वस्तुओं-को नम्रतापूर्वक निरन्तर निरभिमान रहकर भगवत्स्वरूप प्राणीमात्रकी यथायोग्य सेवामें समर्पण करते रहना ही मनुष्यका कर्तव्य है और इसीमें इनकी सार्थकता है । पर मनुष्य इस बातको भूलकर इन वस्तुओंको (बिना हुए ही अपने पास मानकर—या थोड़ी-बहुत किसीके पास हो तो उसको) अपनी वस्तु मानकर अपनेको भगवान् सिद्ध करने जाता है, भगवान् कहलानेमें सुखका—गौरवका अनुभव करता है और जनताके द्वारा हाड़-मांसके पुतले इस पाञ्चभौतिक, क्षणभङ्गुर, सदा अपवित्र शरीरकी पूजा करवाता है—यह उसका प्रमाद—पाप है । पर किससे क्या कहा जाय । आज तो कूएँ भाँग पड़ी है । जिधर देखिये, उधर ही—प्रायः प्रत्येक क्षेत्रमें ही, धार्मिक तथा आध्यात्मिक कहे जानेवाले क्षेत्रोंमें विशेषरूपसे—व्यक्तिपूजा करानेवाले ईश्वरके अवतारों तथा साक्षात् ईश्वरोंकी भरमार हो रही है । इससे जो अनाचारका विस्तार हो रहा है—वह बड़ा ही अकल्याणकारी है ।

पतिको परमेश्वर मानकर पूजनेवाली—उसके सर्वथा अनुगत रहनेवाली पतिव्रता पत्नीकी भाँति गुरुको भगवान् समझकर उनका सेवा-सम्मान करना निश्चय ही आवश्यक तथा कल्याणकारी है; परंतु जैसे पतिका अपनेको 'परमेश्वर' मानकर पूजा करवाना सर्वथा अनीतिपूर्ण असदाचार है, वैसे ही गुरुका अपनेको 'भगवान्' कहकर पूजा करवाना भी निस्सन्देह सर्वथा अनुचित तथा असदाचार है । इससे बुद्धिमान् मनुष्यको सदा बचना चाहिये । आपसे यदि हो सके और आपकी बातका कोई असर उनपर होता दीखे तो—उन्हें समझाइये । अभी तो वे नये ही भगवान् बनने जा रहे हैं, समझमें आ जाय तो अच्छी बात है, वे भविष्यमें होनेवाले भयानक बन्धन तथा यन्त्रणासे बचेंगे । शेष भगवत्कृपा ।

(२)

'हीनभावना' नहीं आनी चाहिये

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण । आपका कृपापत्र मिला । भक्ति-जगत्‌में साधकका 'दैन्य' उसकी भगवान्‌के चरणोंमें पूर्ण प्रपत्तिके लिये—भगवान्‌की अनन्य शरणागतिके लिये आवश्यक साधन है और ऐसे 'दैन्यभाव'को प्राप्त मनुष्य भगवान्‌को बहुत प्रिय है, पर यह साधनरूप दैन्य 'हीनभावना' (Inferiority Complex) नहीं है । हीनभावनामें तो मनुष्य सर्वथा निराश, उदास, अशक्त, उत्साहहीन, बार-बार असफलता-का चिन्तन तथा सफलतामें संदेह करनेवाला, आलसी एवं अकर्मण्य हो जाता है । पर साधन-जगत्‌के दैन्यमें वह भगवान्‌का विश्वासी मनुष्य भगवान्‌की कृपाशक्तिके बलपर नित्य उत्साहयुक्त, सफलताका निश्चयी, सदा

हर्षोत्फुल्ल, भगवान्‌की अमोघ-शक्तिसे शक्तिमान्, भगवत्सेवाके भावसे नित्य सहर्ष सत्कर्मोंमें लगा हुआ होता है। उसमें 'हीनभावना' का सर्वथा अभाव होता है!

असलमें हीनभावनाका उदय भगवान्‌की कृपापर अविश्वास करनेवाले मनुष्योंमें ही प्रधानतया होता है। भगवान्‌के सामने अत्यन्त दीनभावसे रहनेवाले सचमुच अपनेको सर्वथा दीन-हीन माननेवाले और 'मेरे समान दीन कोई नहीं है' 'मो सम दीन न'—ऐसी घोषणा करनेवाले तुलसीदास प्रपञ्चरूप संसारको ललकार कर कहते हैं—

'मैं तोहि अब जान्यौ संसार।
बाँधि न सकहिं मोहि हरिके बल, प्रगट कपट आगार॥'

अतएव इस साधनरूप दैन्यका तो सदा संरक्षण और पोषण करना चाहिये और निराश, उदास, अकर्मण्य, प्रमादग्रस्त, उत्साहहीन बना देनेवाली हीनभावनासे सदा बचे रहना चाहिये। कभी भी मनमें निराशाके नकारात्मक (Negative) भावोंको उदय न होने दीजिये। सदा-सर्वदा भगवदाश्रयी रहकर भगवान्‌के बलपर निश्चित सफलताके (Positive) भावोंका सृजन, पोषण तथा संवर्धन करते रहिये। न कभी स्वयं हीन भावनाको आश्रय दीजिये और न अपने कार्यों तथा वचनोंसे दूसरोंमें हीनभावना पैदा कीजिये। न कहीं किसीमें कुछ हो तो उसको बढ़ाइये।

किसी रोगीसे कभी यह न कहिये कि 'तुम्हारा रोग असाध्य है, तुम्हारे नीरोग होनेमें संदेह है, इस अवस्थामें अच्छे होनेकी क्या आशा है? क्यों दवा कराते हो?' आदि—

किसी विद्यार्थीसे यह मत कहिये कि 'तुम क्या पढ़ोगे? तुम्हें तो परीक्षामें फेल ही होना है। तुम्हें उत्तीर्ण होनेकी आशा न करनी चाहिये।' आदि—

किसी कर्मका शुभारम्भ करनेवालेसे ऐसा मत कहिये—'इतने बड़े काममें तुम कैसे सफल होओगे? क्यों व्यर्थ श्रम करते हो? हमें तो सफलताकी जरा भी आशा नहीं है।' आदि—

किसी सेनाध्यक्ष या सैनिकसे कभी यह मत कहिये कि 'आप क्या जीतेंगे? इतनी बड़ी शक्तिके सामने आपका यह व्यर्थ प्रयास है! आप युद्ध करेंगे तो निश्चय ही आप हारेंगे। कहाँ अमित शक्ति-पराक्रमवाला आपका विपक्षी और कहाँ नगण्य क्षुद्र बलवाले आप।' आदि—

किसी सेवामें लगनेवालेसे ऐसा मत कहिये कि 'तुम क्या सेवा करोगे? तुममें न सेवा करनेका तमीज है, न तुम्हारे पास कोई साधन ही है, झूठ-मूठ ही उत्साह दिखाकर क्यों बवाल मोल लेते हो? तुमसे सेवा तो बनेगी ही नहीं।' आदि—

किसी व्यापारीसे कभी मत कहिये कि 'तुमको तो घाटा ही लगेगा। तुम यह सब चेष्टा क्यों करते हो? तुम्हारा भाग्य ही अच्छा नहीं है।' आदि—

किसी बच्चेसे उसके माता-पिता या अभिभावक कभी ऐसी बात न कहें कि 'तुम क्या उन्नति करोगे? तुम्हें तो जीवनभर दुखी-दरिद्र ही रहना है। तुम सर्वथा अयोग्य हो। तुमसे कोई काम हो ही नहीं सकता। हमारा प्रारब्ध ही खराब था जो तुम हमारे यहाँ पैदा हुए।' आदि—

किसी साधकसे कभी यह मत कहिये कि 'तुम साधनमें सफल नहीं हो सकते।' आदि—

अपने-अपने क्षेत्रमें सभीको सफल पुरुषोंके उदाहरण देकर उत्साह दिलाइये और कहिये कि 'ऐसा कौन-सा काम है जो भगवान्‌की कृपासे ठीक-ठीक प्रयत्न करनेपर सफल नहीं हो सकता? छोटा आदमी बहुत बड़े-बड़े काम कर सकता है। हीनबल मनुष्य भी बलवानोंको

हरा सकता है। हर क्षेत्रमें मनुष्य सफलता प्राप्त कर सकता है, यदि वह भगवान्के अमोघ कृपाबलपर विश्वास करके ठीक रास्तेपर चलता रहे और उत्साह-पूर्वक अपना काम तत्परतासे करता रहे। भगवान्के बलमें विश्वास, उस बलपर सफलताका निश्चय, तत्परताके साथ कार्यमें लगे रहना और उत्साह कम करनेवाले—दूसरी-दूसरी ओर मनको खींचनेवाले वातावरणसे दूर रहना—यों करनेपर निश्चय ही सफलता मिलेगी। कभी निराश मत होइये।'

वास्तवमें अपनेमें तथा दूसरोंमें हीनताकी भावना पैदा करनेवाला अपना तथा दूसरोंका शत्रु है। अतः भगवान्के बलपर तथा पुरुषार्थपर विश्वास पैदा करने-करानेवाला अपना तथा दूसरोंका सच्चा मित्र बनना चाहिये, शत्रु नहीं।

आप स्वस्थ और सानन्द होंगे। जो भगवान्का आश्रय करके उनके चरणोंमें स्थित है, वास्तवमें वही 'स्वस्थ' है और वही 'आनन्द'का वास्तविक अनुभव करता है। शेष भगवत्कृपा।

परमार्थकी पगडंडियाँ

'भगवान् सब मङ्गल करते हैं और सदा मङ्गल करेंगे'—यह विश्वास रखना। सङ्ग अच्छा नहीं रहनेपर उसका भी मनपर असर होता ही है और मनके दोष भी अभी सारे दूर नहीं हुए हैं। पर तुम जरा भी निराश न होकर ऐसा निश्चय करो कि 'मैं अपनेको भगवान्के अर्पण कर चुका हूँ। मैं 'मेरा' नहीं, भगवान्का हूँ। मेरे मन-बुद्धिपर भगवान्का अधिकार है। अतएव मेरे मनमें बुरे भाव—विषय-वासना, भोग-कामना, राग-द्वेषके भाव आ ही नहीं सकते। आयेंगे तो ठहर नहीं सकेंगे—या तो तुरंत नष्ट हो जायँगे या भाग जायँगे।'

भगवान्की कृपापर दृढ़ विश्वास करना, यह अनुभव करना कि उनकी अनन्त कृपा है। भगवान् जब, जो परिस्थिति देते हैं, उसीसे हमको लाभ उठाना चाहिये। किसी भी प्रतिकूल परिस्थितिको अपने विचारके द्वारा अनुकूल बनाया जा सकता है। विश्वाससे अनुकूलता हो सकती है और प्रेममें तो अनुकूलता-प्रतिकूलताका प्रश्न ही नहीं रह जाता; वहाँ तो केवल प्रेमास्पद भगवान्का सुख ही एकमात्र उद्देश्य होता है। अतः किसी भी अवस्थामें असंतोष होता ही नहीं।

× × × ×

भगवान्को सर्वसमर्पण कर देनेके बाद निश्चय ही वह वस्तु भगवान्की हो जाती है। फिर भगवान् उसे अपने अधिकारपूर्वक, इच्छानुसार बरतते हैं और इस प्रकार जो भगवान्की वस्तु बन जाता है एवं भगवान् जिसे इच्छानुसार निःसंकोच बरतते हैं, उसीका जीवन धन्य है। फिर न तो उसे, कुछ पानेकी चिन्ता रहती है, न सोचनेकी ही कोई बात उसके लिये रह जाती है। उसके लिये सोचना, करना-कराना—सब प्रभु अपने जिम्मे ले लेते हैं। वह तो सर्वथा निश्चिन्त और योगक्षेमकी कल्पनाको छोड़कर नित्य-निरन्तर प्रभुके मधुर चिन्तनमें लगा रहता है।

× × × ×

भगवान्का यह स्वभाव है कि 'जो उनका हो जाता है, उसे सदाके लिये अपनाकर वे स्वयं उसके बन जाते हैं। भूलना, त्याग करना, हृदयमें न बसना, न बसाना—यह सब तब रहता ही नहीं।'

भगवान्ने दुर्वासासे कहा है कि 'ऐसे प्रेमी भक्त मेरा हृदय होते हैं, मैं उनका हृदय होता हूँ। वे मेरे सिवा किसीको नहीं जानते, मैं उनके सिवा और किसीको नहीं जानता।' जब वे स्वयं ही हृदय हो जाते हैं और प्रेमी भक्तको अपना हृदय बना लेते हैं, तब त्यागकी तो कल्पना ही नहीं। वे उस

प्रेमीके पराधीन हो जाते हैं—उसके मनमें अपने मनका प्रवेश कराकर एकमन, एकप्राण हो जाते हैं। यही परम आदर्श है।

भगवान् इसमें कोई विलक्षण बात नहीं करते। उनका स्वभाव ही ऐसा विलक्षण है। वे जिसको अपने हृदयमें बसा लेते हैं, वह चाहनेपर भी फिर उनसे अलग नहीं हो सकता। उसे तो वहाँ सदाके लिये बँधे रहना पड़ता है। यों प्रेमी भक्त और प्रेमास्पद भगवान् एक-दूसरेके द्वारा बँधे जाते हैं और एक-दूसरेको बाँध लेते हैं। यह अनन्त मायाके बन्धनोंसे मुक्त स्थितिमें होनेवाला बन्धन बड़ा ही विलक्षण, दिव्य, मधुर होता है। अतएव इससे मुक्ति न भगवान् चाहते हैं, न प्रेमी चाहता है।

× × × ×

सच्ची इच्छाको भगवान् अवश्य पूरा करते हैं। तुम ऐसा मानते ही क्यों हो कि भगवान्ने कुछ बाकी रक्खा है। तुम बस, विश्वास करके यह मान लो कि 'भगवान् मेरे हैं और मैं उनका हूँ।' उनकी कृपा तो अपार है ही और वह भी अहैतुकी है। पर प्रेममें तो कृपाकी भी कोई महत्ता नहीं रहती। प्रेमीके प्रेम-रसास्वादनके लिये भगवान् स्वयं लालायित रहते हैं। हम ऐसे भगवान्के सुखमें सुखी रहनेवाले बन जायँ कि बस, भगवान्को ही हमारी सदा चाह बनी रहे; वे हमें अपने पास रखनेमें और हमारे पास रहनेमें सुखका अनुभव करें।

× × × ×

यह निश्चित विश्वास रक्खो कि तुमपर श्रीकृष्णका परम अनुग्रह है। सारी चिन्ताओंको छोड़कर एकमात्र श्रीकृष्णका ही चिन्तन करो। फिर जहाँ, जब, जो कुछ करना-कराना होगा, वे अपने आप ही करें-करायेंगे। अब भी वे ही करते-कराते हैं। पर तुम अपनी चिन्ता आप करने लगते हो, इससे उनके करनेका अनुभव नहीं कर पाते हो। × × × इस गंदे शरीरकी तो बात ही क्यों सोचते हो? तुम तो यह शरीर नहीं हो। तुम जो हो, सदा उनके पास ही हो, वे सदा ही तुम्हारे पास हैं। वे तुमको कभी छोड़ना ही नहीं चाहते, तुम चिन्ता क्यों करते हो? निरन्तर उनकी संनिधिका अनुभव करके मुग्ध होते रहो। परमानन्द मानो—परमानन्द मनाओ।

जब भगवान्ने तुमको अपना लिया और तुम भगवान्के हो गये, तब तुम्हें क्यों दुःख सहना होगा, दुःख ही क्यों होगा? और यदि कहीं होगा, तो उसे भगवान् ही भोगेंगे, तुम क्यों भोगोगे? जिसके पास मन है, वही मनके सुख-दुःख भी भोगेगा। किसीने मुझे अपना मकान दे दिया। मैं उसे लेकर उसमें नित्य रहने लगा। फिर उस मकानकी सर्दी-गरमी, गंदगी-सफाई मैं ही तो भोगूँगा; देनेवाला क्यों भोगेगा? अतएव भगवान्के होकर तुमको तो सदा-सदा परम सुखी ही रहना चाहिये।

सुख-दुःख भोगना हो तो वे अपने आप भोगें और वे ही भोगते भी हैं। तुम उनके हृदयकी भीतरी कोठरीमें घुसकर देखो तो तुम्हें पता लगे। सर्वथा निर्लेप रहते हुए भी हमारे सुख-दुःखके एकमात्र भोक्ता वे ही हैं, निस्संदेह—

> भोग रहे हैं सुख-दुख सारा सदा हमारे प्रिय भगवान।
> बैठे अंदर कालकोठरीमें उसको निज मन्दिर मान॥
> कभी नहीं वे जरा ऊबते, नहीं जताते कुछ अहसान।
> व्यर्थ छेड़ते रहते हैं हम मूढ़बुद्धिकी मिथ्या तान॥

× × × ×

संसारमें सर्वत्र भगवान् भरे हैं—इस बातको न देखकर हम अपने मनकी अनुकूलता खोजते रहते

हैं। इसीसे दुःख बना रहता है। सदा सर्वत्र भगवान्‌को देखें, उनका अनुभव करें। वे हमारे हैं, हम उनके ही हैं—यह सदा अनुभव करते रहें। फिर संसारकी कामना-वासना कहाँ रह सकेंगी? कैसे रह सकेंगी?

× × × ×

'भगवान् नित्य तुम्हारे पास हैं'—इस बातका पक्का विश्वास रक्खो। अनुभव कम होता है तो कोई बात नहीं। सत्यका अनुभव होते क्या देर लगती है? जब होगा, तब प्रत्यक्ष ही हो जायगा, सदाके लिये। मनमें यह विश्वास रखना चाहिये।

× × × ×

शरीर कहीं भी रहे, 'उनको' तो नित्य-निरन्तर साथ रहना ही पड़ेगा। एक क्षण भी अलग रहें या रहने दें—यह उनका स्वभाव ही नहीं है। हम चाहे उन्हें न देख पायें—पर वे तो सदा हमें देखते—मुस्कुराते रहते हैं और बीच-बीचमें विचित्र भाव-भङ्गिमाओंके द्वारा अपना अनुभव भी कराते रहते हैं। उनका दृढ़तम सम्बन्ध ऐसा विचित्र है कि वह कभी भङ्ग तो हो ही नहीं सकता; क्षणभरके लिये भी पृथक् नहीं रहने देता—

प्रभुसे मेरा प्यारा न्यारा है जैसा जो कुछ सम्बन्ध।
काट दिये हैं उसने सारे मेरे यहाँ-वहाँके बंध॥
रहते मेरे साथ निरन्तर प्रभु, क्षण दूर नहीं होते।
अनुभव सदा कराते अपना हर स्थितिमें जगते-सोते॥
रहूँ कहीं भी, कैसे भी, वे रहते नित्य पास मेरे।
रहते नित भीतर-बाहरसे चारों ओर मुझे घेरे॥
वे मेरे कैसे अपने हैं, इसे बताऊँ मैं कैसे।
अनुभव होता है पर, नहीं बता सकता—गूँगा जैसे॥

'मूकास्वादनवत्।'—उनकी अनुभूतिका वर्णन नहीं किया जा सकता। पर निश्चय ही वे सदा-सर्वदा साथ हैं, इसपर विश्वास करो तथा अनुभव भी करो। वे अपने-आप ही अनुभव भी कराते रहते हैं।

× × × ×

यदि तुम सर्वथा समर्पित हो चुके हो, तो फिर अपनी चिन्ता क्यों करते हो? तुम्हारा अपनापन तो सारा भगवान्‌की वस्तु बन चुका है। तुम्हें राग-विरागसे क्या मतलब? तुम अपनी जगह—अपनेको भगवान्‌के हाथका एकमात्र खिलौना समझो। वे अपनी इच्छानुसार कुछ भी करें; तुम अपना अधिकार क्यों मानते हो? न तो तुम्हें अब अपने लिये चिन्ता-शोक करनेका अधिकार है, न संसारकी किसी परिस्थितिको लेकर हर्ष और उल्लास करनेका। तुम तो निश्चिन्त रहकर परमानन्दस्वरूप प्रभुका अनवरत चिन्तन करते रहो। चिन्ता करनी होगी तो वे आप करेंगे। संसारकी कुछ भी स्थिति रहे।

तुम्हारे पाप तो उसी क्षण नष्ट हो गये थे, जिस क्षण तुमने अपनेको उनके चरणोंमें समर्पण कर दिया था। अब वे चाहे तुम्हारी खूब बड़ाई करें या तुम्हें खूब कोसें-फटकारें—अपमान करें। तुमको न अपनी बड़ाई माननी है, न फटकार-अपमान। वे अपनी ही बड़ाई करते हैं और अपनेको ही कोसते-फटकारते हैं। तुम्हें न तो बड़ाई सुनकर फूलना चाहिये, न अपनी बड़ाई मानकर संकोच करना चाहिये। इसी प्रकार न तो अपमान-निन्दासे दुखी होना चाहिये और न अपनी निन्दा मानकर क्षोभ ही करना चाहिये।

तुम्हारी बड़ाई कौन करता है ? वे तो अपनी वस्तुको बढ़िया मानकर अपनी वस्तुपर रीझकर, अपनी वस्तुसे आप सुखी होकर, अपनी वस्तुके गुणगान करनेके बहाने प्रकारान्तरसे अपना ही गुणगान करते हैं। वे अपनेसे तुमको पृथक् मानते ही नहीं। तुम्हें अपनेमें मिलाकर अथवा तुममें स्वयं मिलकर वे अपने-आपमें ही अपने-आप खेल करते हैं। तुम एक खिलौना हो, पर वह खिलौना भी वे आप ही बने हैं। अतएव तुम सदा ही मौजमें रहो। जगत्का कोई रूप सामने आवे, कैसी भी परिस्थिति आवे, तुम यही समझो—'वे तुम्हारे हैं—तुम उनके हो। न तुम्हारा अन्य कोई है, न तुम अन्य किसीके हो।' फिर चिन्ता, भय, मान, मद, विषादको स्थान ही कहाँ है ? तुम्हारे लिये तो दुःख, भय, शोक नामकी कोई वस्तु ही नहीं रह गयी है; अधिक क्या कहा जाय ?

× × × ×

इससे अधिक जाननेकी तुम्हें आवश्यकता ही नहीं है। तुम तो बस, इतना ही मानो-जानो कि 'भगवान् मेरे हैं, मुझे बड़े ही प्रिय लगते हैं और मैं उनका हूँ।' फिर जब वे जनाना चाहेंगे, जना देंगे। हमें उनके ज्ञानसे मतलब नहीं, हमें तो उनसे तथा उनके प्रेमसे मतलब है। उनको स्वयं गरज हो, तब वे अपना पूरा ज्ञान दें। ज्ञान होनेपर भी यदि प्रेम कम हो जाय तो वह ज्ञान भी नहीं चाहिये। वे चाहे कोई, कुछ भी हों, 'हमारे अपने हैं, पूरे अपने हैं, सदा अपने हैं, अत्यन्त मधुर प्रियतम हैं, सदा पास रहते हैं, सदा रसदान करते रहते हैं, उनपर हमारा सम्पूर्ण अधिकार है।' बस, यह चीज सदा बनी रहनी चाहिये।

× × × ×

किसी भी वातावरणमें रहो, वे तुम्हें नित्य अपनाये हुए हैं। तुम तो केवल उनके नामका जप करते रहो। श्रीराधामाधव तुम्हारे हृदयमें ही बसे हैं। स्मृति और उत्कण्ठा उत्तरोत्तर बढ़ाते रहो। वे स्वयं ही तुम्हें सारे विघ्नोंसे बचायेंगे।

वस्तुतः तो तुम परम सुखी तभी होओगे—जब एकमात्र परमश्रेष्ठ श्रीभगवान्का ही अनन्य चिन्तन होगा। जगत्का यह रूप और इसके व्यवहार सभी मनसे सर्वथा निकल जायँगे। समस्त हर्ष, द्वेष, शोक, आकाङ्क्षाका नाश हो जायगा। अतः बस, कोई भी दूसरा चिन्तन न करके भगवान्का ही मधुर मनोहर चिन्तन करनेकी चेष्टा करो।

× × × ×

जो अपनेमें दोष देखता है, जिसको अपनेमें गुणोंका अभाव दीखता है, जो सदा अपनेको लेनेवाला ही मानता है, देनेकी कोई वस्तु या योग्यता ही नहीं मानता, वही तो वास्तवमें गुण-शील-सौजन्य-समन्वित उदार है। पवित्र प्रेमराज्यमें अपनेमें सर्वथा-सर्वदा दैन्य तथा दोषोंके ही दर्शन होते हैं और भगवान्में सदा गुणोंके तथा अमित उदारताके।

× × × ×

जगत्के विनाशी, क्षणस्थायी सम्बन्धको यथार्थ सम्बन्ध समझकर सुखी होना मूर्खता नहीं तो क्या है ? ऐसे सम्बन्धको लेकर ममत्व करना और फिर रोना-धोना मूर्खता ही तो है। इसमें जो नित्य है, सत्य है, जिससे कभी विछोह नहीं होता, जो सदा साथ ही रहता है और रहेगा···उसीसे प्रेम करना चाहिये। वह है-'श्रीकृष्ण'। उसीके अनन्त नाम हैं। है वह एक ही। वही हमारा सब अवस्थाओंका और सब समयका मित्र है। वह नित्य सुहृद् है, नित्य सुन्दर है, नित्य मधुर है। वह सदाका साथी है, वह हमारे प्राणोंका प्राण है, आत्माका आत्मा है। इस श्रीकृष्णको छोड़कर अन्य किसीसे भी प्रेम करोगे, उसीमें धोखा होगा; जिसको चाहोगे, वही नष्ट होगा। न मालूम हमने कितनी योनियोंमें सुखके कितने

संसार रचे हैं। वहाँ भी हमारे सगे-सम्बन्धी थे। पर हम सबको धोखा दे आये; आज उनकी तनिक भी चिन्ता हमें नहीं है। वे हमसे प्रेम करते थे, परंतु हमसे उन्होंने क्या पाया? बस, यही बात है। इसलिये एकमात्र श्रीकृष्णको ही अपना समझो, उन्हींसे प्रेम करो। सबमें उन्हींको देखकर फिर सबसे प्रेम करो। किसीमें खास ममत्व नहीं करना चाहिये। जीवन-मृत्यु तो उनका······श्रीकृष्णका······ खेल है। सबमें, सब समय सब ओरसे उन्हींको देखो, उन्हींको पकड़ लो; तभी जीवन सार्थक होगा, तभी सुखके—सच्चे सुखके, परमानन्दके यथार्थ दर्शन होंगे।

× × × ×

मन निरन्तर भगवान्‌की स्मृतिमें ही लगा रहे। दूसरेका चिन्तन हो ही नहीं। समर्पण पूर्ण होना चाहिये। जिस मनमें भगवान् बस गये, उसमें कभी, किसी भी हालतमें दूसरेको स्थान नहीं मिलना चाहिये। गोपियोंने तो उद्धवजीसे कहा था—'परमात्माके ध्यानके लिये भी मनमें स्थान नहीं रहा। 'नाहिन रह्यौ हिय महँ ठौर।' इसी प्रकार दिन-रात स्वप्न-जागरणमें सदा-सर्वदा एकमात्र प्रभु ही चित्तमें रहें, प्रभुमें ही चित्त रहे। प्रभुका चित्त ही अपना चित्त बना रहे। बस!

× × × ×

जहाँतक हो सके, राग-द्वेषको छोड़कर स्वार्थकी परवा न करके सबके हितकी उदार-दृष्टिसे जो कुछ भी हमारी बुद्धिमें आवे, भगवान् जैसी भी प्रेरणा करें, तदनुसार हमें उचित चेष्टा करते रहना चाहिये। फिर भगवान्‌के विधानसे जो कुछ हो, वही ठीक और यथार्थ है। उसीमें आनन्द भी है।

असलमें संसारका संयोग-वियोग, सफलता-विफलता, हानि-लाभ, जन्म-मृत्यु आदि हमारे मनकी क्षुद्र सीमामें ही व्यक्त होते हैं। अनन्त महासागरके वक्षःस्थलपर क्रीडा करनेवाली असंख्य तरङ्गोंके समान विश्वमें भगवान्‌की यह लीला अनवरत चल रही है। इस लीलाको न समझनेके कारण ही ये सब हमें सुख-दुःख देनेवाले होते हैं। यह हमारे ही विचारोंकी सृष्टि है। उस महान् अनन्तकी ओर देखनेसे तो इन लहरियोंमें अनन्त अपार एकरस आनन्दराशिके अतिरिक्त और कुछ भी नजर नहीं आता। अतएव चेष्टा करनी चाहिये कि हमारी आन्तरिक दृष्टि नित्य-निरन्तर अनन्तकी ओर ही लगी रहे। व्यावहारिक दृष्टिसे तरङ्गोंके साथ हम भी यथायोग्य तरङ्गित होते रहें। इन बाह्य तरङ्गोंका सङ्ग भी हमें सतत उस अनन्तकी अपार महिमा बताकर महान् आनन्दका अनुभव करानेवाला ही हो। किसी भी तरङ्गका आघात हमारे अंदर आनन्दकी ही अनुपम और ललित लहरी उत्पन्न करता रहे और सारी लहरियोंको लेकर हम उस अनन्त आनन्दसागरमें निमग्न हो जायँ।

× × × ×

पुरुष हो या स्त्री—मनुष्य-जीवनका प्रधान उद्देश्य—एकमात्र उद्देश्य है—'भगवान्‌को अथवा उनके अनन्य प्रेमको प्राप्त करना एवं कर्म-बन्धनोंसे सदाके लिये छूट जाना।' जो मनुष्य अपने इस उद्देश्यकी सिद्धिमें लगा रहता है और उद्देश्यको प्राप्त कर लेता है, उसीका जीवन सार्थक है, वही बुद्धिमान् है।

वस्तुतः इस मानव-शरीरको पानेका फल विषय-भोग नहीं है। जो लोग विषय-भोगमें मन लगाते हैं, वे अमृत बदलकर जहर लेते हैं। इसीलिये बुद्धिमान् पुरुष विषयोंकी आसक्तिका त्याग करते हैं और इसीलिये परमार्थ-मार्गके पथिकगण अतुल सम्पत्तिका त्याग करके संन्यास-ग्रहण किया करते हैं। यदि वे विषय हमसे छूट जायँ तो सचमुच यह ईश्वरका वरदान है, उनका कोप नहीं।

पढ़ो, समझो और करो

(१)

सुन्दरकाण्डकी महिमा

गत बीस साल पहलेतक मैं दिल्लीमें स्टॉक एक्सचेंजमें शेयरका दलाल था। महात्मा गाँधीकी हत्या हो जानेके कारण मार्केट एकदम बंद हो गये थे और अचानक बाजारमें भारी मंदी आ गयी थी। सट्टेके हर दलालके कुछ-न-कुछ जोखिम सिरपर रहती ही है।

उस समय कुछ ऐसा मौका बना कि जो लेनदार थे, वे तो सिरपर सवार हो गये और देनदार गायब-से हो गये। निजी रुपये इतने थे नहीं कि लेनदारोंको तो पहले निपटा दूँ और जिनसे मुझे लेना था, उनसे पीछे लेता रहूँ। अब इज्जत-आबरूपर आँच आती हुई दिखायी देने लगी और मैं एकदम घबरा गया था।

उस मुसीबतके समयमें मुझे एक पुराने अनुभवी वृद्ध दलालने एकान्तमें ले जाकर कहा कि 'घबरा मत और घर जाकर शान्त-चित्तसे बैठ करके पाठ कर। अपने सामने भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका ऐसा चित्र ले जाकर स्थापित कर ले जिसमें श्रीजानकीजी, श्रीरामचन्द्रजी और श्रीलक्ष्मणजी खड़े हैं और चरणोंमें श्रीहनुमान्जी महाराज विराजमान हैं। शरीरपर एक लाल कपड़ा जरूर पहन लेना। भगवान्के चित्रके आगे घीका दीपक और धूप जला लेना। फिर हर दोहेके साथ यह सम्पुट लगाकर सुन्दर-काण्डका पाठ श्रीहनुमान्जी महाराजको सुना—

दीन दयालु बिरिदु संभारी।
हरहु नाथ मम संकट भारी॥

इस अर्धालीका सम्पुट लगाना। पहले दिन एक पाठ, दूसरे दिन दो पाठ, तीसरे दिन तीन पाठ, चौथे दिन चार पाठ, पाँचवें दिन पाँच पाठ, छठे दिन छः, सातवें दिन सात, आठवें दिन आठ और नवें दिन पूरे नौ पाठ सुनाना। दसवें दिन एक ब्राह्मण जिमाकर उनका आशीर्वाद लेना। तुम्हारे सारे कष्ट हनुमान्जीकी कृपासे दूर हो जायँगे।

सुन्दरकाण्ड पढ़नेसे पहले किष्किन्धाकाण्डके २९वें दोहेसे पाठ शुरू करना चाहिये। यहाँसे श्रीहनुमान्जीको अपना बल याद आता है।'

मैंने ऐसा ही किया। लाभ यह हुआ कि जो लेनदार जानसे मार देनेकी धमकी देने लगे थे और आबरू खराब करनेपर तुल गये थे, वे ही सब लोग अपने-आप इकट्ठे होकर चौथे पाठवाले दिन ही घरपर आये और बड़ी ही नम्रतासे बोलने लगे; पर मैंने पाठ बीचमें छोड़ा नहीं, पूर्ण किया और भगवत्कृपासे सब काम इतने शान्तिपूर्ण ढंगसे निपटा कि कुछ कहा नहीं जा सकता।

भगवान्की कृपा निराली है, वह अपने भक्तोंकी लाज रखता है।

—श्रीश्यामसुन्दर अग्रवाल

(२)

सच्ची शिक्षा

एक बार मैं बसमें राजकोटसे ध्रांगध्रा जा रहा था। दो-तीन स्टैंडके बाद एक ग्रामीण बहन अपने छोटे बच्चेके साथ बसपर सवार हुई। उसके पीछे-पीछे ही दो-तीन शिक्षिता महिलाएँ भी चढ़ीं। उन्होंने ग्रामीण बहनको धक्का देकर आगे बढ़नेका रास्ता बना लिया। ग्रामीण स्त्री बोली—'बहन! मैं वहाँ बैठने जा रही हूँ, मेरी पोटली लेनेके लिये खड़ी हूँ।' पर उस बेचारीकी कौन सुनता? उन शिक्षिता स्त्रियोंने उस सीटपर अपना आसन जमा लिया। वह ग्रामीण बहन एक अक्षर भी न बोलकर नीचे रास्तेमें ही बैठ गयी। कुछ देर बाद आये अगले स्टैंडपर एक-दो मुसाफिर उतरे, तब उस बहनको जगह मिल गयी। उसके अगले स्टैंडपर एक बूढ़ी माताजी लगभग दस वर्षकी एक लड़कीके साथ बसपर चढ़ीं। जगह कहीं थी नहीं। कोई कुछ कहे, उसके पहले ही वह ग्रामीण बहन खड़ी होकर माताजीसे कहने लगी—'आप बूढ़ी हैं, खड़ी नहीं रह सकेंगी, यहाँ बैठ जाइये।' हम सब देखते रहे—उसने माताजीको अपनी सगी माँकी तरह बड़े आदर तथा हर्षके साथ अपनी सीटपर बैठा दिया। मैंने उस बहनसे अपनी जगह बैठनेके लिये कहा, तब वह बोली—'ना, भाई! मुझे बैठना नहीं है।

अब अगले गाँवपर तो उतर ही जाना है। यह तो पंखियोंका मेला है।'

मैं तो विचारमें ही पड़ गया—कहाँ हमारा शिक्षित समाज और कहाँ यह बिना पढ़ी-लिखी, पर मानवताकी सुगन्ध फैलानेवाली ग्रामीण बहन।

शिक्षा और संस्कारका भेष धारण करनेवाली उन शिक्षिता बहनोंपर मानो गाँवकी एक अशिक्षित पर मानवताकी मूर्ति बहनने विजय प्राप्त की, मुझे ऐसा लगा।

(अखण्ड आनन्द) —जेसंगकुमार के. धरजिया

(३)

सिक्किम देशमें चोरी नहीं होती

आजकल सभी ओर चोरी, ठगी, डकैतीकी भरमार है। पर आश्चर्यकी बात है,—सुननेपर सहसा विश्वास नहीं होता कि भारतके उत्तर हिमालयकी गोदमें स्थित सिक्किम राज्यमें चोरी नहीं होती। वहाँ ताला-चाभीकी आवश्यकता नहीं है। प्राचीन हिंदू जातिके सम्बन्धमें ग्रीकदेशीय दूत मेगास्थिनीजने हिंदुस्थानमें आकर लिखा था—'यह एक अद्भुत देश है—यहाँ चोरी नहीं होती। ताला-चाभीकी दरकार नहीं रहती। यहाँतक कि समृद्ध संस्कृत भाषामें सभी भावोंके प्रतिशब्द हैं, परंतु ताला या चाभीके लिये कोई प्रतिशब्द नहीं है।'

'दूध' पत्रिकाके सम्पादक महाशयने यह अद्भुत बात सुनायी। उनकी भतीजीके पति सिक्किम देशमें काम करते हैं। वे सिक्किममें ही थे। सम्प्रति अपने माता-पिताके समीप यहाँ आये हैं। भतीजीने सम्पादक महोदयको बताया कि सिक्किममें चोरी नहीं होती, वहाँ चोर नहीं हैं। दरवाजोंपर ताला नहीं लगाया जाता। कोई कुछ लेता नहीं। एक दिन हमलोग दरवाजा खुला छोड़कर बाजार चले गये। कुछ देर बाद लौटे तो खोजनेपर भी लड़कीका सफेद कमीज नहीं मिला। इधर-उधर बहुत ढूँढ़ा, पर मिला ही नहीं। पड़ोसियोंसे कहा—'दरवाजा खुला छोड़ गये थे, मालूम होता है किसीने चुरा लिया है।' पड़ोसी एक सज्जनने कहा—'असम्भव है। हम बीस सालसे यहाँ हैं। हमारी कोई भी चीज अभीतक चोरी नहीं गयी। दूसरेकी भी कोई चीज चोरी गयी हो, ऐसा कभी नहीं सुना।' दूसरे लोगोंने भी इसका समर्थन किया।

दूसरे दिन दुपहरके समय एक अत्यन्त गरीब स्त्रीने आकर पूछा—'यह कमीज क्या आपलोगोंका है?' मैंने देखकर कहा—'हाँ, कहाँ मिला आपको?' उसने कहा—'मेरी लड़की रास्तेमें पड़ा उठा लायी थी। मालूम होता है, बरामदेसे हवामें उड़कर रास्तेमें गिर गया था। मेरी लड़की अभी बोलती नहीं, इसलिये वह बता नहीं सकी कि उसे कैसे मिला। मैं मुहल्ले-मुहल्ले जाकर पूछ रही हूँ कि यह किसका कमीज है।'

मैंने देखा, वह स्त्री बहुत ही गरीब थी। उसका शरीर एक फटे कपड़ेके टुकड़ेसे ढका था। इतनी गरीब होनेपर भी उसने कमीज लिया नहीं और सारे काम छोड़कर कमीजके मालिकको खोजती घर-घर जाकर पूछ रही है। मैंने उसको आदरपूर्वक बैठाया और उसको तथा उसकी छोटी बच्चीको कुछ मिठाई खानेको दी। छोटी बच्चीके लिये एक नया कमीज देने लगी तो उसने लेनेसे इन्कार कर दिया। फिर, बहुत कहनेपर वह उसे लेकर नमस्कार करके चली गयी।

इस युगमें भी ऐसे देश अभी हैं, यह जानकर आश्चर्य होता है।

—भारताजिर

(४)

भोले दिलका पाप

तीन मील दूरसे चलकर आनेवाले हमारे दूधवालेसे मैंने एक दिन पूछा—'तू इस महीने साइकल खरीदनेवाला था न?'

दूधवाला कुछ देर चुप रहा। उसके बाद भरी-भरी आवाजसे बोला—'बहन! इस महँगीमें, जहाँ मुश्किलसे रोटी मिलती है, साइकल कैसे खरीदता?'

उसके दिलको दुःख पहुँचा है—मुझे ऐसा लगा—अतः मैंने कहा—'भाई! तेरी बात सच है। यह तो तैंने उस दिन कहा था, इसीसे मैंने पूछ लिया।'

'बहन! जिस समय मैंने यह बात कही थी, उस समय मेरे दिलमें एक पापी विचार पैदा हो गया था। मुझे लगा कि सारी दुनिया ही जब अनीतिको अपनाकर मौज-मजा कर रही है, तब मैं भी अनीतिको क्यों नहीं अपनाऊँ?'

मुझे उसकी बातमें रस आया, इससे मैंने पूछा—'तू सचमुच अनीति करता है ? मुझे तो यह विश्वास नहीं होता ।'

'बहन ! मुझपर आपकी दया है और भगवान्‌की कृपा है, इससे सबको विश्वास है । परंतु लोभ बुरी चीज है । आप जानती हैं कि मैं असली घी-दूधका धंधा करता हूँ । पर मैंने दूसरोंकी तरह असली घीमें थोड़ा वेजिटेबल मिलाना और दूधमें पानी मिलाना शुरू किया । एक प्रकारकी छाप हो गयी थी, इससे किसीका भी मुझपर संदेह हो, यह स्वाभाविक नहीं था । शुरू-शुरूमें तो मैंने इस बातको घरकी स्त्रियों तथा वृद्ध माता-पितासे भी छिपाकर रक्खा । आठ-दस दिन हुए होंगे, मेरा बच्चा बीमार पड़ा । गाय बीमार हो गयी । घरमें एक प्रकारकी कलह हो गयी । मेरे पिताकी इज्जत करनेवाला मैं पिताके सामने बोल बैठा । उस दिन एक टी० बी० का रोगी हमारे घरपर आया और वह पाँच किलो असली घी ले गया, पर उस घीमें तो आधी मिलावट थी । मेरे पितासे उसने कहा—'आपकी साख बहुत बड़ी है, इसीसे मैं बहुत दूरसे आपके यहाँ असली घी लेने आया हूँ ।'

वह मनुष्य मूर्ख बन गया, यह जानकर मुझे हर्ष हुआ । मेरे बूढ़े पिताने आत्मसंतोषका अनुभव करते हुए 'घी ताजा है या बासी' इसकी जाँच करनेके लिये उसे देखा । उनकी अनुभवी आँखें घीको पहचान गयीं । हाथपर जैसे जलता अंगारा पड़ गया हो, ऐसे हाथ मारते हुए मेरे पिताने मुझसे कहा—'बेटा ! यह क्या ? अपने घरमें !'

मुझे गूँगेकी तरह खड़े देखकर मेरे पिताका संदेह पक्का हो गया । कुछ भी विचार किये बिना पिताने मेरी माँसे कहा—'चल, इस घरमें अपना अन्न-जल समाप्त हो गया । मेरा प्यारा भगवान् रूठ गया । निश्चय ही हमने कोई पाप किया होगा, जिससे हमारे लड़केमें मिलावट करनेकी यह कुबुद्धि पैदा हुई ।' मैंने अपने भोले माता-पिताकी आँखोंसे आँसू टपकते देखे । मेरा संस्कारी आत्मा जाग उठा ।'

मैं इस दूधवालेकी बात सुनती ही रही !

'बहन ! उस दिनसे मैंने मिलावट करके अनीतिका पैसा न लेनेकी पक्की प्रतिज्ञा कर ली है । घरमें जो झगड़ा-कलह था, उसकी जगह अब आनन्दकी लहरियाँ लहरा रही हैं । (अखण्ड आनन्द) —गुणवंती त्रिवेदी

(५)

चिथड़ोंमें साहूकार

आजके युगमें स्वार्थपरता, बेईमानी एवं अनैतिकता अपनी चरम सीमापर है । जीवनमें कुछ-एक ऐसी घटनाएँ भी होती हैं, जिससे मनमें आस्था उत्पन्न होती है । एक सच्ची घटना, जो मेरे जीवनमें घटित हुई, ईमानदारीके प्रति आस्था उत्पन्न करती है ।

घटना लगभग ६वर्ष पूर्वकी है । मैं एक गाँवके माध्यमिक विद्यालयमें प्रधानाध्यापक-पदपर कार्य करता था ।

एक दिन मैं विद्यालयके बच्चोंकी क्रीडाका सामान खरीदनेके हेतु गाँवसे बीकानेर आ रहा था । दूरी लगभग ६२ मील थी । समय भी ३ घंटे लगभग लगते थे । अतः मैं निश्चिन्त होकर बसकी एक सीटपर झपकियाँ लेने लगा ।

कुछ खराबी आ जानेसे बस एकाएक रुकी । मालूम हुआ कि शहर अभी २२ मील दूर है । यात्री धीरे-धीरे नीचे उतरने लगे और इधर-उधरकी बातें करने लगे । मैं भी आलस्य दूर करनेके लिये बससे नीचे उतरा । लगातार दो घंटे बैठे रहनेसे थकावट आ गयी थी ।

बस लगभग एक घंटे पश्चात् ठीक हुई । सभी यात्री अपने-अपने स्थानोंपर बैठ गये । मैं भी अपने स्थानपर बैठ गया । बस रवाना हुई । थोड़ी ही दूर चलनेपर मेरा हाथ जेबकी ओर गया । जेब खाली । एकाएक हृदयपर वज्र-सा गिरा । मनमें कई उतार-चढ़ाव आये । सोच रहा था कि तीन सौ रुपयेकी पूर्ति कैसे करूँगा ।

अभीतक यह सुनता आया था कि विपत्तिमें ईश्वर सहायक होते हैं, परंतु इस समय मैंने वास्तविक रूपमें अनुभव किया । मैं मन-ही-मन ईश्वरसे प्रार्थनाएँ करने लगा । कभी मनमें सोचता कि बटुआ शायद, जहाँ बस खराब हुई थी, वहाँ गिर पड़ा हो ? मनमें कई प्रकारके संकल्प आते और जाते । अब हो भी क्या सकता था; क्योंकि बस उस स्थानसे काफी दूरीपर थी । अब ईश्वरके सिवा कोई सहारा नहीं था ।

ईश्वरने सद्बुद्धि दी । मनमें विचार आया कि मेरे पीछे बैठे यात्रीसे पूछूँ । मेरे पीछे एक भिखमंगा-सा यात्री बैठा था । आखिर साहस बटोरकर निराश-मनसे पीछे बैठे

उस यात्रीसे मैंने पूछा—'मेरा बटुआ आपको मिला क्या ?'

वह यात्री चुप रहा, शायद उसने न सुना हो। मैंने उसे फिर एक बार कहा तो वह पूछने लगा—'बाबूजी ! कैसे रंगका था बटुआ ? कितने रुपये थे उसके अंदर ?' मैंने उसे पूर्ण विवरण बताया। उसने अपनी जेबसे वह काले रंगका बटुआ निकालकर मेरे सामने रख दिया और कहा—'अपने रुपये गिन लीजिये।'

मैंने रुपये गिने। रुपये एकदम पूरे थे। मुझे रुपये प्राप्त होनेपर अपार खुशी हुई और उसको पुरस्कारस्वरूप २१ रुपये देने चाहे। परंतु उस ईमानदार यात्रीने एक पैसा भी लेनेसे इन्कार कर दिया। मैंने सोचा कि बीकानेर उतरनेपर उसे जबर्दस्ती इनाम दूँगा। परंतु अगले स्टेशन-पर वह व्यक्ति कब उतरा, मुझे पता ही नहीं चला। बहुत अर्सेतक मुझे उससे मिलनेकी उत्कण्ठा रही। इधर-उधर खोजा भी, परंतु वह आजतक कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं हुआ।

भ्रष्टाचार और अनीतिके इस युगमें भी ईमानदारीकी सुगन्ध फैलानेवाले व्यक्ति अभी भी मौजूद हैं।

—श्रीतुलसीदास पुरोहित, एम्०ए०, बी० एड०, 'साहित्यरत्न' बीकानेर

(६)

अशिक्षितकी संस्कृति

हमारे यहाँ एक बार एक बड़ी उम्रकी हमारी सम्बन्ध-वाली बहन आयीं। खा-पीकर दुपहरके फुरसतसे बैठे हमलोग बातचीत कर रहे थे। आपसमें कुशल-समाचार पूछने-जाननेके बाद मैंने उनसे आग्रहके साथ कहा—'आज रुक जाइये, कल जाइयेगा। आजकी आज ही जायँ—ऐसी क्या उतावली है ?' वे बोलीं—'ना रे भाई ! शामकी गाड़ीसे तो मुझे जाना ही चाहिये; हमारा बैल बेचारा भूखों मरेगा ? उसे पानी कौन पिलायेगा ?'

मैं उनकी बातका अभिप्राय ठीक समझा नहीं। मैंने सोचा—'इनका बैल भूखा-प्यासा क्यों मरेगा ?' अतएव मैंने पूछा—'बैल क्यों भूखा-प्यासा मरेगा ?' उन्होंने कहा—'उस बेचारेका पैर टूट गया है। इसलिये वह दिनभर आँगनमें बैठा रहता है। दोनों लड़के सवेरे खेत चले जाते हैं और बहुएँ भी रोटी बनाकर खेत जाती हैं, फिर बैलको चारा-पानी कौन दे ?' मैंने पूछा—'क्यों वह चल सकता ही नहीं ? अब उसका क्या करेंगी ?' उन्होंने उत्तर दिया—'उसने बहुत दिनोंतक हमारा काम किया है। अब इस स्थितिमें उसे कैसे छोड़ दिया जाय ? अब तो उसके मरनेके समयतक उसे बैठे-बैठे खिलाना-पिलाना है। हम उसे पिंजरापोलमें ही भरती नहीं करायेंगे। उस बेचारेके भी जीव है न ?'

मैं संस्कृति और तत्त्वज्ञानके गम्भीर विचारमें पड़ गया और उस अशिक्षित बुढ़ियाकी ओर देखता रहा।

(अखण्ड आनन्द) —देवीप्रसाद रावल

गोरक्षा-सत्याग्रह

सम्पूर्ण गोहत्या—बंदीका कानून बने, इसके लिये सर्वदलीय गोरक्षा-महाभियान-समितिके द्वारा पूज्य जगद्गुरु शंकराचार्य अनन्तश्री निरञ्जनदेवतीर्थजीके नेतृत्वमें गत ८ मईको दिल्लीमें सत्याग्रह आरम्भ हुआ था। प्रतिदिन पाँच महानुभाव सत्याग्रहके लिये जा रहे हैं। पूज्यपाद श्रीशंकराचार्यजी, वल्लभ-सम्प्रदायके आचार्य श्रीरणछोड़लालजी, महात्मा स्वामीजी श्रीकरपात्रीजी, संसद्-सदस्य आर्यसमाजके श्रीरामगोपालजी शालवाले, दिल्ली महानगर परिषद्के सदस्य श्रीप्रेमचन्दजी गुप्त, विभिन्न सम्प्रदायोंके आचार्य, महात्मा, उच्चश्रेणीके विद्वान् तथा अन्य सभी क्षेत्रोंके महानुभाव बड़े उत्साहके साथ सत्याग्रहमें भाग ले रहे हैं। देशभरको तन-मन-धनसे उनका साथ देना चाहिये, जिससे पवित्र भारतभूमिसे गोहत्याका पाप मिटे। पत्र-व्यवहारका पता है—मन्त्री, सर्वदलीय गोरक्षा-महाभियान-समिति, २१७२, यमुनाबाजार दिल्ली ६

राजस्थानमें अकाल सहायता

भगवत्कृपासे गीताप्रेस-सेवादलके द्वारा बीकानेर केन्द्रमें अकालपीड़ित गौमाताकी रक्षा तथा सेवाका कार्य राजस्थान सरकारकी स्तुत्य सहायताके साथ भली-भाँति चल रहा है। गौओंकी अवस्था-व्यवस्था सुन्दर है। उनको चाटा भी बढ़ाकर दिया जाने लगा है। गत १७ जूनके पत्रके अनुसार केन्द्रमें प्राप्त करनेवाली गौओंकी संख्या ४३०० के लगभग थी। उस समयतक वहाँ वर्षा नहीं हुई थी, इससे गौओंको कष्ट है। यथासाध्य उन्हें बचानेकी चेष्टा की जा रही है। कार्य-कर्तागण उत्साहसे काम कर रहे हैं।

धूर्तोंसे सावधान

फीरोजाबादसे एक सज्जन लिखते हैं कि "एक व्यक्ति 'कल्याण'के एजेंटके रूपमें आये। अन्यान्य पत्र-पत्रिकाओंकी लिस्टके साथ उन्होंने 'कल्याण' गीताप्रेसकी लिस्ट भी दिखायी। 'कल्याण'का वार्षिक चन्दा १२) छपा हुआ दिखलाया। फिर कहा कि 'फिलहाल ३) देकर आप तीन महीनेके लिये ग्राहक बन जायँ। मईकी प्रति आपको मिल जायगी,—यों कहकर वे तीन रुपये ले गये। उनकी छपी रसीदपर पता था 'साहित्यकेन्द्र', न्यायालय मार्ग, सहारनपुर। हमने वहाँ पत्र लिखा तो वह लौट आया। रसीदपर अंग्रेजीमें 'चावला' दस्तखत था—आदि"

ऐसा ही एक संवाद जयपुरसे भी आया था। वास्तवमें हम न 'साहित्यकेन्द्र' को जानते हैं, न ऐसे किन्हीं 'चावला'को। 'कल्याण'का मूल्य ९ रु० है। हमारे ऐसे कोई भी एजेंट नहीं हैं। अतएव गीताप्रेसकी विभिन्न स्थानोंकी दूकानवालों तथा अपने सुपरिचित सज्जनोंको छोड़कर 'कल्याण' के लिये या गीताप्रेसकी पुस्तकोंके लिये किसीको रुपये न दें। ये लोग जनताको ठगनेवाले धूर्त हैं। इनसे सावधान रहें।

व्यवस्थापक—'कल्याण' गीताप्रेस, गोरखपुर

गीता और रामायणकी आगामी परीक्षाएँ

श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीरामचरितमानस—दो ऐसे प्राणीमात्रके लिये महान् कल्याणकारी ग्रन्थ हैं, जिनको सभी श्रेणीके लोग विशेष श्रद्धाकी दृष्टिसे देखते हैं। इसलिये समितिने इन ग्रन्थोंकी अमूल्य शिक्षाका प्रचार-प्रसार करनेके उद्देश्यसे वर्षोंसे परीक्षाओंकी नियमित व्यवस्था कर रक्खी है। उत्तीर्ण छात्रोंको योग्यतानुसार पुरस्कार भी दिया जाता है।

परीक्षाओंके लिये स्थान-स्थानपर लगभग ५०० केन्द्र भी स्थापित हैं तथा नियमानुसार और भी केन्द्र स्थापित किये जा सकते हैं।

आगामी गीतापरीक्षाएँ दिनाङ्क २२। २३ नवम्बर १९७० को एवं रामायणकी परीक्षाएँ दिनाङ्क २४। २५ जनवरी १९७१ को होनेवाली हैं।

केन्द्र-व्यवस्थापकोंसे निवेदन है कि सभी परीक्षाओंके लिये आवेदनपत्र एवं नवीन केन्द्रोंकी स्थापनाके लिये प्रार्थनापत्र दिनाङ्क ३० अगस्त, १९७० तक भेज देनेकी कृपा करें।

विशेष जानकारीके लिये पत्र लिखकर नियमावली मँगा सकते हैं।

व्यवस्थापक—श्रीगीता-रामायण-परीक्षा-समिति, गीताभवन, पो० स्वर्गाश्रम (पौड़ी-गढ़वाल) उत्तरप्रदेश।

'अग्निपुराण-गर्गसंहिता-अङ्क' अभी प्राप्त हो सकता है

इस विशेषाङ्कमें 'अग्निपुराण'का तथा 'गर्गसंहिता'का जितना अंश प्रकाशित हुआ है, उसको विभिन्न दृष्टिकोणवाले सभी पाठकोंने बहुत पसंद किया है। वस्तुतः वह अङ्क अत्यन्त उपादेय, ज्ञानवर्धक, सरस है तथा यथार्थ अभ्युदयमें तथा 'निःश्रेयस' या भगवत्प्रेम-प्राप्तिके मार्गमें बड़ा सहायक है। 'अग्निपुराण'में विविध अवतारोंकी कथाओंके साथ-साथ विविध देवताओंकी विविध विधि-युक्त पूजन-विधि, वैदिक उपासना तथा प्राचीन विद्या-कलाओंका महत्त्वपूर्ण वर्णन है। जब कि गर्ग संहितामें भगवान् श्रीराधा-माधव, गोलोकधाम, दिव्य सखागण तथा दिव्य स्थलोंके अवतार, भगवान्‌की प्राकट्य-लीला, उनकी वृन्दावन, मथुरा और द्वारिका-लीलाओंका बड़ा ही सरस और मधुर वर्णन है।

उक्त विशेषाङ्ककी १,६५,००० प्रतियाँ छापी गयी थीं। उनमें अब बहुत थोड़ी प्रतियाँ बची हैं; माँग निरन्तर बनी है। कल्याणप्रेमी पाठक और ग्राहक बननेवाले महानुभाव रुपये भेजकर शीघ्र ग्राहक बन जायँ और इस संग्रहणीय विशेषाङ्कको प्राप्त कर लें। समाप्त होनेपर मिलना सम्भव न होगा। वार्षिक मूल्य रु० ९. सजिल्दका मूल्य १०.५० है।

'कल्याण' के प्राप्य विशेषाङ्क

(१) ३७वें वर्षका—संक्षिप्त ब्रह्मवैवर्त-पुराणाङ्क—पृष्ठ-संख्या ६८२, बहुरंगे चित्र १७, दोरंगा १, इकरंगे ६, रेखाचित्र १२०, ७.५०

(२) ४०वें वर्षका—धर्माङ्क—पृष्ठ-संख्या ७००, बहुरंगे चित्र १४, दोरंगा १, सादा ४, रेखाचित्र ८१, मूल्य ७.५०, सजिल्द ८.७५

(३) ४१वें वर्षका श्रीरामवचनामृताङ्क—पृष्ठ-संख्या ७०४, बहुरंगे चित्र १४, दोरंगा १, रेखाचित्र ६४, मूल्य ८.५०, सजिल्द १०.००

(४) ४२वें वर्षका—उपासनाङ्क—पृष्ठ-संख्या ७००, बहुरंगे चित्र १६, दोरंगा १, रेखाचित्र ३४, यन्त्र तथा मुद्राएँ ८, मूल्य ९.००, सजिल्द १०.५०

(५) ४३वें वर्षका—परलोक और पुनर्जन्माङ्क—पृष्ठ-संख्या ६९६, बहुरंगे चित्र १९, दोरंगा २, सादे चित्र ५९, (११ मासिक अङ्कोंसहित) सजिल्द १०.५०

डाक-व्यय सबमें हमारा होगा

व्यवस्थापक—'कल्याण', पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)